आधुनिक काव्य की कलावादी भूमिका

[१६०१—२० ई०]

डॉ० श्यामलाल यादव 'राजेश'
एम०ए०, पी-एच० डी०
हिन्दी-विभाग,
राजा बलबन्तसिंह कालेज, आगरा

ग्रन्थायन
सर्वोदय नगर, सासनीगेट,
अलीगढ़—२०२००१

समर्पण

वात्सल्यमयी दादी माँ स्व० शोभादेवी
की पुण्य स्मृति को सादर !

प्रस्तावना

काव्य को कला के अन्तर्गत सर्वोच्च स्थान दिया गया है। ललित कलाओं में काव्य-कला सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इस दृष्टि से काव्य की कलावादी भूमिका का अध्ययन अपने-आप में एक महत्त्वपूर्ण विषय है। मुझे इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि डॉ० श्यामलाल यादव 'राजेश' ने 'आधुनिक काव्य की कलावादी भूमिका' नामक इस ग्रन्थ में आधुनिक हिन्दी कविता, मुख्यतः द्विवेदी युगीन हिन्दी कविता, की कलावादी पृष्ठभूमि का विशद एवं तर्कसम्मत उद्घाटन किया है। मैंने इसे आदि से अन्त तक देखा-पढ़ा है और मैं जानता हूँ कि यह अपने ढंग का एक अनूठा कार्य है।

कला की अवधारणा जितनी गहन है, उतनी ही व्यापक है। इसे परिभाषित करना अथवा इसके भेदोपभेदों को वर्गीकृत करना कठिन कार्य है। बहुरूपी और बहुरंगी संसार जयन्नियंता की कलात्मक संरचना का जैसा अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करता है, कलात्मक सौन्दर्यबोध और कलासृष्टि के कुछ वैसे ही आश्चर्यजनक आयाम मनुष्य के कृतित्व में दिखाई पड़ते हैं। कला वस्तुतः एक जीवन-दृष्टि है जो व्यक्तिसापेक्ष होने के कारण बहुमुखी, बहुरूपी और बहुरंगी है। मनुष्य ने अपनी संवेदना, सौन्दर्यप्रियता, कल्पनाशीलता और सृजन-कौशल से जीवन और जगत् को एक कलात्मक साँचे में ढालने का उपक्रम किया है। अब उसका जीवन ही कला का पर्याय है और उसका सामाजिक परिवेश एक कलात्मक दृष्टि एवं कलात्मक दायित्व की माँग करता है।

कला जीवन में हो, जगत् में हो अथवा, जीवन और जगत् को वाणी के माध्यम से रूपायित करनेवाले काव्य में, उसका कोई वाद नहीं हो सकता। तथापि, उन्नीसवीं शदाब्दी के उत्तरार्ध में फ्रांस में 'कला कला के लिए' का नारा बुलन्द किया गया जो कालान्तर में 'कलावाद' का उन्नायक सिद्ध हुआ। कुछ लोग कला को जीवन से अनुबन्धित करते हुए सोद्देश्य, सार्थक और उपयोगितावादी सृजन के प्रति आग्रहशील रहे। 'कलावाद' का विस्फोट इसी

की प्रनिक्रिया में हुआ। अस्तु, 'कलावाद' की विचारधारा चल निकली, जो मामाजिक दायित्व से निरपेक्ष होकर विशुद्ध आनन्दवादी—सौन्दर्यवादी मान्यताओं की पक्षधर बनी।

'कलावाद' के प्रस्फुटन के लिए फ्रांस में बहुत उर्वर भूमि उपलब्ध हुई। विक्टर कज़िन (१७६२–१८६७) ने इसका सूत्रपात किया। ग्वेटियर ने इसे विकसित किया। फ्लावेयर और ज़ोला की यथार्थपरक—प्रकृतवादी विचार-सरणि ने नैतिक मूल्यों की अवहेलना करके साहित्य में शुद्ध सौन्दर्यवादी एवं आनन्दवादी दृष्टि की स्थापना की। ग्वेटियर के सौन्दर्यवादी सिद्धान्त ने पारनेशियन सिद्धान्त का रूप ग्रहण किया जो नितान्त यथार्थवादी एवं तथ्य-परक था। कालान्तर में कलात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को सूक्ष्म एवं रहस्य-गर्भित बनाने की दृष्टि से प्रतीकवाद की अवतारणा हुई जिसके प्रवर्त्तकों में बॉदलेयर, मलार्मे, बर्लेन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रतीकवाद ने कलावाद को और अधिक पुष्ट किया। 'कला कला के लिए' नामक सिद्धान्त फ्रांस से निकलकर इंगलैण्ड तथा अन्य यूरोपीय देशों में भी पहुँचा और कला को एक निरपेक्ष सौन्दर्य-सृष्टि मानकर आनन्दवादी परिप्रेक्ष्य में उसके सृजन एवं मूल्यांकन की प्रवृत्ति ने बहुत व्यापक रूप ग्रहण किया। प्रकृतवाद, अतियथार्थ-वाद, पारनेशियन सिद्धान्त और प्रतीकवाद के अतिरिक्त कई ऐसे वाद भी प्रचलित हुए जिन्होंने कलावाद को प्रोत्साहन एवं प्रश्रय दिया। व्यक्तिवाद स्वच्छन्दतावाद, अभिव्यंजनावाद, मनोविश्लेषणवाद इत्यादि का कलावाद से से बहुत गहरा सम्बन्ध है।

हिन्दी के रीतिकालीन काव्य को कई अर्थों में कलावादी कहा जा सकता है। रस-सिद्धान्त से लेकर नायक-नायिका-भेद और ध्वनि-वक्रोक्ति से लेकर अलंकारों के व्यवस्थित विधान तक आनन्दवादी—सौन्दर्यवादी दृष्टि ही दिखाई पड़ती है। आधुनिक सन्दर्भों में कलावाद का समग्र विस्फोट छायावाद-युग में हुआ जिसमें व्यक्तिवाद, स्वच्छन्दतावाद, अभिव्यंजनावाद और प्रतीकवाद के विविध आयाम परस्पर घुले-मिले दिखाई पड़ते हैं। छायावाद युग से कुछ पहले की कविता—द्विवेदी युगीन कविता को वर्णनात्मक, इतिवृत्तात्मक, नैतिकताप्रधान और मर्यादावादी कहा जाता है तथा छायावाद को इसकी प्रतिक्रिया बताया जाता है। यह धारणा सर्वांश में सही नहीं है। छायावाद के बीज द्विवेदीयुग में बोए गये—द्विवेदीयुगीन कविता—का एक कलावादी आसंग भी रहा है।

की प्रतिक्रिया में हुआ। अस्तु, 'कलावाद' की विचारधारा चल निकली, जो सामाजिक दायित्व से निरपेक्ष होकर विशुद्ध आनन्दवादी—सौन्दर्यवादी मान्यताओं की पक्षधर बनी।

'कलावाद' के प्रस्फुटन के लिए फ्रांस में बहुत उर्वर भूमि उपलब्ध हुई। विक्टर कज़िन (१७९२-१८६७) ने इसका सूत्रपात किया। ग्वेटियर ने इसे विकसित किया। फ्लाबेयर और ज़ोला की यथार्थपरक—प्रकृतवादी विचार-सरणि ने नैतिक मूल्यों की अवहेलना करके साहित्य में शुद्ध सौन्दर्यवादी एवं आनन्दवादी दृष्टि की स्थापना की। ग्वेटियर के सौन्दर्यवादी सिद्धान्त ने पारनेशियन सिद्धान्त का रूप ग्रहण किया जो नितान्त यथार्थवादी एवं तथ्य-परक था। कालान्तर में कलात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को सूक्ष्म एवं रहस्य-गर्भित बनाने की दृष्टि से प्रतीकवाद की अवतारणा हुई जिसके प्रवर्त्तकों में बॉदलेयर, मलार्मे, बर्लेन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रतीकवाद ने कला-वाद को और अधिक पुष्ट किया। 'कला कला के लिए' नामक सिद्धान्त फ्रांस से निकलकर इंगलैण्ड तथा अन्य यूरोपीय देशों में भी पहुँचा और कला को एक निरपेक्ष सौन्दर्य-सृष्टि मानकर आनन्दवादी परिप्रेक्ष्य में उसके सृजन एवं मूल्यांकन की प्रवृत्ति ने बहुत व्यापक रूप ग्रहण किया। प्रकृतवाद, अतियथार्थ-वाद, पारनेशियन सिद्धान्त और प्रतीकवाद के अतिरिक्त कई ऐसे वाद भी प्रचलित हुए जिन्होंने कलावाद को प्रोत्साहन एवं प्रश्रय दिया। व्यक्तिवाद स्वच्छन्दतावाद, अभिव्यंजनावाद, मनोविश्लेषणवाद इत्यादि का कलावाद से से बहुत गहरा सम्बन्ध है।

हिन्दी के रीतिकालीन काव्य को कई अर्थों में कलावादी कहा जा सकता है। रस-सिद्धान्त से लेकर नायक-नायिका-भेद और ध्वनि-वक्रोक्ति से लेकर अलंकारों के व्यवस्थित विधान तक आनन्दवादी—सौन्दर्यवादी दृष्टि ही दिखाई पड़ती है। आधुनिक सन्दर्भों में कलावाद का समग्र विस्फोट छायावाद-युग में हुआ जिसमें व्यक्तिवाद, स्वच्छन्दतावाद, अभिव्यंजनावाद और प्रतीकवाद के विविध आयाम परस्पर घुले-मिले दिखाई पड़ते हैं। छायावाद युग से कुछ पहले की कविता—द्विवेदी युगीन कविता को वर्णनात्मक, इतिवृत्तात्मक, नैतिकताप्रधान और मर्यादावादी कहा जाता है तथा छायावाद को इसकी प्रतिक्रिया बताया जाता है। यह धारणा सर्वांश में सही नहीं है। छायावाद के बीज द्विवेदीयुग में बोए गये—द्विवेदीयुगीन कविता—का एक कलावादी आसंग भी रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में डॉ० श्यामलाल यादव 'राजेश' ने द्विवेदीयुग की शुष्क और सपाट समझी जानेवाली काव्यधारा में कलावादी आमंग की आख्या का सफल और सहराहनीय प्रयास किया है। इस ग्रन्थ मे छायावाद के उत्स के रूप में द्विवेदी युग की कलावादी प्रवृत्तियों को देखने-परखने मे यथेष्ट सहायता मिलती है। द्विवेदीयुगीन काव्य के कलावादी पक्ष का समुचित-समग्र उद्घाटन इस ग्रन्थ की निजी विशेषता मानी जायेगी। मेरा विश्वास है कि डॉ० 'राजेश' की इस गवेषणात्मक कृति का हिन्दी जगत् में अच्छा स्वागत होगा।

—डॉ० रवीन्द्र भ्रमर

आचार्य, हिन्दी-विभाग,

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

प्राक्कथन

कलावाद कोई वाद नहीं है, यह साहित्य के प्रति एक दृष्टि विशेष का परिचायक है। यूरोप में अरस्तू और प्लेटो से लेकर अब तक इसकी सत्ता किसी न किसी रूप में बराबर मिलती है। यद्यपि भारतीय चिन्तन की अन्तरात्मा उपयोगितावाद की ओर उन्मुख रही है, तथापि भारतीय साहित्य में कलावाद के संपोषक तत्व पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। विश्व साहित्य में चर्चित एवं काव्य-प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित कलावादी निकष पर हिन्दी साहित्य के युगान्तरकारी एवं ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व पूर्ण कालखण्ड द्विवेदी-युग (१९०१–२० ई०) के काव्य के मूल्यांकन की उपयोगिता और और आवश्यकता स्वतः स्पष्ट है। अधिकारी विद्वानों ने नाना दृष्टियों से विवेच्य काल (द्विवेदी युग) के काव्य के गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किए है, किन्तु इसकी कलावादी भूमिका का विवेचन अद्यावधि नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त इतिवृत्तात्मकता एवं नीतिमत्ता के कारण इस कालखण्ड के काव्य की उपयोगितावादी छवि निर्मित हो चुकी है, जबकि इसमें कलावाद के परम्परागत तथा नवागत ऐसे उर्वरक बीजतत्त्व अन्तर्निहित हैं, जिनका कि ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्त्व है। इन्हीं महत्त्वपूर्ण कलावादी तथ्यों को उजागर करना प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है, जिससे कि साहित्य जगत् से इस भ्रान्ति का निवारण हो सके कि द्विवेदी युग में केवल उपयोगितावादी काव्य का ही सृजन हुआ, कलावादी काव्य का नहीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'काव्य चिन्तन और कलावाद' शीर्षक के अन्तर्गत सर्वप्रथम कलावाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसकी परिभाषा प्रस्तुत की गई है। कलावाद के स्वरूप के विवेचन में पाश्चात्य एवं भारतीय चिन्तकों की कलावाद संबंधी मान्यताओं को समाविष्ट किया गया है। इन मान्यताओं का समाहार करते हुए कलावाद की सामान्य प्रवृत्तियों का रेखांकन हुआ है। इसी शीर्षक के अन्तर्गत कलावाद की वस्तुगत एवं शिल्पगत साहित्यिक प्रवृत्तियों का निर्धारण किया गया है, जिससे कि किसी कृति या काल विशेष में अन्तर्निहित कलावादी तत्त्वों का आकलन किया जा सके। यों तो काव्य

अपने आप में एक ललित कला है, किन्तु विभिन्न विचारकों ने इसके विभिन्न रचना-उद्देश्य बताए है। कलावाद इन्ही उद्देश्यों में से एक है, जो अति प्राचीन काल से समादृत रहा है। 'काव्य और कलावाद' उपशीर्षक में काव्य के प्रतिमान के रूप में कलावाद की परिसीमाओं (उपलब्धियों एवं दुर्बलताओं) का उद्घाटन किया गया है।

'हिन्दी काव्य में कलावादी चेतना : प्रवर्तन और परम्परा' शीर्षक के अन्तर्गत आदिकाल से लेकर आधुनिककाल तक के काव्य में प्रस्तुत कलावादी मान्यताओं का विहंगावलोकन किया गया है। इस दृष्टि से हिन्दी कविता की समृद्ध कलावादी परम्परा के परिज्ञान के साथ-साथ विवेच्य काव्य के कलावादी स्वरूप का उसके पूर्वापर काव्य से प्रवृत्तिगत एवं परिमाणगत साम्य-वैषम्य भी स्पस्ट हो सका है।

प्रत्येक काल का काव्य अपनी विशेष परिस्थितियों का ही परिणाम होता है। विवेच्य काव्य भी इसका अपवाद नहीं है। 'युगीन परिवेश और कलावाद' शीर्षक में मैंने आलोच्य काल की उन विभिन्न सामयिक परिस्तिथियों का स्पष्टीकरण किया है, जो कलावादी काव्य-सृजन के लिए उपयुक्त भूमिका का निर्वाह करती हैं।

'काव्य दर्शन और कलावाद' तथा 'काव्य-शिल्प और कलावाद' शीर्षकों के अन्तर्गत विवेच्य काव्य में प्रतिफलित कलावाद की दर्शन एवं शिल्प संबंधी प्रवृत्तियों का विवेचन विश्लेषण किया गया है। इस विवेचन में प्रवृत्ति विशेष के मूल प्रेरक तत्त्वों का उद्घाटन, प्रवर्तित स्वरूप, पूर्वापर काव्य में स्थिति, साहित्यिक उपयोगिता एवं उपलब्धि और कलावादी चरित्र का साक्ष्यांकन आदि बिन्दुओं पर विचार किया गया है।

'विवेच्य काव्य : कलावादी भूमिका' शीर्षक के अन्तर्गत विवेच्य काव्य के विकास-क्रम को उपयोगितावाद तथा कलावाद के परिप्रेक्ष्य में दर्शाया गया है। विवेच्य काव्य की मूल प्रवृत्ति तो उपयोगितावाद है, किन्तु इसका प्रवृत्त्यात्मक विकास-क्रम कलावादोन्मुखी है। इसी शीर्षक के अन्तर्गत यह भी स्थापना की गई है कि विवेच्य काल-खण्ड की कलावादी रचनाएँ परिमाण में कम होते हुए भी ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं।

सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि और अलीगढ़ विश्वविद्यालय में हिन्दी के वरिष्ठ आचार्य डॉ० रवीन्द्र भ्रमर का मैं हृदय से अभिनन्दन करता हूँ, जिनकी प्रेरणा से इस ग्रंथ की रचना हुई और जिन्होंने इसकी प्रस्तावना लिखकर इसके महत्त्व को बढ़ाया है। सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक डॉ० रामविलास शर्मा, कविवर डॉ० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', डॉ० रमेश 'कुन्तल मेघ', आचार्य एवं

अध्यक्ष गुरुनानकदेव विश्वविद्यालय अमृतसर, डॉ० रामलालसिंह, भूतपूर्व अध्यक्ष, लोक सेवा आयोग, उत्तरप्रदेश इलाहाबाद, डॉ० राकेशगुप्त भूतपूर्व प्राचार्य, डी० एस० बी० कॉलेज नैनीताल, डॉ० मनोहरलाल गौड़, भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दीविभाग, डी० एस० कॉलिज अलीगढ़, सुविख्यात एवं लोकप्रिय गीतकार 'नीरज' तथा डॉ० हरिनारायण यादव, हिन्दी-विभाग, राजा बलवन्तसिंह कॉलेज, आगरा के अमूल्य सुझाव-संकेतों से मैं समय-समय पर लाभान्वित हुआ हूँ, एतदर्थ इन सभी मनीषी विद्वानों, गुरुओं और सुधी महानुभावों के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। कैप्टन मनमुखलाल, शेरेहिन्द, सरदारे जंग (आज़ाद हिन्द फौज), श्री ब्रजेश कुमार यादव, एम० ए०, एल० एल-बी०, अपनी पत्नी श्रीमती विभा यादव, एम० ए० (शोध-छात्रा), श्री अम्बिकादत्त शर्मा, अधिशासी अभियंता, श्री ललित कुमार शर्मा, बी० ए० (आनर्स), एल-एल०बी० (आनर्स), के विविध सहयोगों एवं प्रोत्साहनों के लिए मैं उन्हें सादर सप्रेम धन्यवाद देता हूँ। यहाँ मैं अपने आत्मज द्वय—प्रतीक और विभोर—का भी सस्नेह स्मरण करता हूँ, जो इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करने के क्षणों में साधक-बाधक बने हैं। जिन ग्रंथों, पत्र-पत्रिकाओं इत्यादि से मुझे सहायता-सामग्री प्राप्त हुई है, उनके अधिकारी लेखकों का ऋण स्वीकार करना मेरा कर्तव्य है। अन्त में, इस ग्रन्थ के प्रकाशक प्रियवर श्री अभयकुमार भी सजग प्रयास एवं सहयोग के लिए साधुवाद के पात्र हैं।

आगरा, १६-१०-८५ **श्यामलाल यादव 'राजेश'**

विषयानुक्रम

परिशिष्ट

१. काव्यचिन्तन और कलावाद

(क) कलावाद : अर्थ एवं परिभाषा

कलावाद एक प्रयोजनमूलक शब्द है, जिसमें 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त का अन्तर्भाव है। इस प्रकार कलावाद एक काव्य-दृष्टि या काव्य-धारणा के रूप में उन सभी मान्यताओं एवं विशेषताओं का अभिव्यंजक माना जा सकता है, जो कला (साहित्य) के उद्देश्य के संबंध में 'कला, कला के लिए' के द्वारा स्थापित हुई है। कलावाद कला या साहित्य को समाज-उत्थान तथा जीवन-निर्माण के साधन के रूप में स्वीकार न कर उसे स्वयं अपने आप में एक साध्य मानता है। इस सन्दर्भ में बाबू गुलाबराय का निम्नांकित मत द्रष्टव्य है—"कला का अर्थ है, 'कला, कला के लिए', जिसका अभिप्राय यह होता है कि कला नीति और उपयोगिता के बन्धनों से परे है, उसमें केवल सौन्दर्य का ही साम्राज्य है और उसकी जाँच का मापदण्ड सौन्दर्य ही होना चाहिए।"[1] 'हिन्दी-साहित्य-कोश' में कलावाद की व्याख्या लोक (समाज) निरपेक्ष एक परम स्वतन्त्र प्रवृत्ति के रूप में की गई है —"कलावादी कला को लोकातीत वस्तु, कलाकार को लोकोत्तर प्राणी और कलाजन्य आनन्द को अलौकिक आस्वादयुक्त एवं समाज-निरपेक्ष मानता है।"[2]

बाबू श्यामसुन्दरदास ने भी कला या साहित्य को सभी प्रकार के बाह्य बन्धनों से मुक्त एक स्वतन्त्र सृष्टि मानते हुए कलावाद के समाज-निरपेक्ष स्वरूप का समर्थन किया है—"उस अवस्था में 'कला, कला के लिए' का हमारे लिए केवल इतना ही अर्थ रह जाता है कि कला एक स्वतंत्र सृष्टि है। कला-सौन्दर्य और कलाभिव्यंजन के कुछ अपने नियम हैं।[3]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक निबन्ध में कलावाद तथा अभिव्यंजनावाद की प्रवृत्तियों का निम्नवत् उल्लेख किया है—

"१—प्रस्तुत मार्मिक रूप-विधान के प्रयत्न का त्याग और केवल प्रचुर अप्रस्तुत-रूप-विधान में ही प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग।

1. सिद्धान्त और अध्ययन—बाबू गुलाबराय, पृ० २८३
2. हिंदी-साहित्य-कोश—(प्रधान सम्पादक) डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० २०४
3. साहित्यालोचन—डा० श्यामसुन्दरदास

२—जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को लेकर भाव या मार्मिक अनुभूति में लीन करने का प्रयास छोड़ केवल उक्ति में ही वैलक्षण्य लाने का प्रयास।

३—जीवन की विविध मार्मिक दशाओं को प्रत्यक्ष करनेवाले प्रबन्ध काव्यों की ओर से उदासीनता और प्रेमसम्बन्धी मुक्तकों या प्रगीत मुक्तकों (Lyrics) की ओर अत्यन्त अधिक प्रवृत्ति।

४—'अनन्त' 'असीम' कुछ ऐसे शब्दों द्वारा उन पर आध्यात्मिक रंग चढ़ाने की प्रवृत्ति।

५—काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में शिल्प अर्थात् बेलबूटे और नक्काशी वाली हलकी धारणा।"[1]

कलावाद की प्रवृत्तियों के उल्लेख के तारतम्य में आचार्य शुक्ल का निम्नांकित कथन और जोड़ा जा सकता है—

"कलावाद के प्रसंग में बार-बार आने वाले सौन्दर्य शब्द के कारण बहुत से कवि बेचारी स्वर्ग की अप्सराओं को पर लगाकर कोहकाफ़ की परियों या बिहिश्त के फ़रिश्तों की तरह उड़ाते हैं, सौन्दर्य-चयन के लिए...बहुत सी सुन्दर और मधुर सामग्री प्रत्येक कविता में जुटाना आवश्यक समझते हैं। स्त्री के नाना अंगों के आरोप के बिना वे प्रकृति के किसी दृश्य के सौन्दर्य की भावना ही नहीं कर सकते।"[2]

आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त उद्धरणों में कलावाद की विषयगत तथा शिल्पगत विशेषताओं का उल्लेख हुआ है। उन्होंने आध्यात्मिक तथा प्रेम-सौन्दर्य-चित्रण के आधिक्य को कलावाद की विषयगत, और उक्तिवैचित्र्य, अप्रस्तुत-विधान, प्रगीतात्मकता एवं शैल्पिक सज्जा के प्रति विशेष सजगता को उसकी शिल्पगत प्रवृत्तियों के रूप में रेखांकित किया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि कलावाद कला या साहित्य के प्रति वह क्षणिक एवं छद्म आनन्दवादी धारणा है जिसमें जीवन और समाज के हित साधन की ओर से उदासीन रहकर प्रमुखतः निष्क्रिय प्रेम-सौन्दर्य की कलापूर्ण बंकिम अभिव्यक्ति की जाती है।

(ख) कलावाद : प्रकृति एवं स्वरूप

(१) पाश्चात्य सन्दर्भ—१९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में आर्थिक दुर्दशा, बेकारी की समस्या, विज्ञान के नवीन आश्चर्यजनक आविष्कार और

1. चिन्तामणि (भाग २)—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १९४-१९५
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६५५

युद्ध की विभीषिकाओं ने विश्व के जन-मानस को आन्दोलित कर दिया। इन आन्दोलनकारी परिस्थितियों ने साहित्य एवं कला को विशेष रूप से प्रभावित किया। कलाकार कोलाहलपूर्ण दृश्यलोक से दूर अपने मनोजगत् में रमण करने लगे। इन आत्मस्थ कलाकारों ने कला की स्वतन्त्र एवं मौलिक व्याख्याएँ प्रारम्भ कीं। कला-विषयक इन स्वतन्त्र व्याख्याओं—विवेचनाओं में उसके जीवन एवं जगत् के प्रति दायित्व को विस्मृत कर दिया गया। इसी समय लगभग १८६६ ई० में फ्रांस में साहित्य के अन्तर्गत एक ऐसी विचार-धारा का सूत्रपात हुआ जिसका सीधा और प्रत्यक्ष सम्बन्ध कलावाद से था। यह विचार धारा 'लार पूर लार" (Art for Art Sake.) के द्वारा व्यक्त हुई।

सर्व प्रथम विक्टर कजिन (१७९२–१८६७ ई०) ने 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त की ओर संकेत किया। थ्योफाइल ग्वेटियर ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया। उसने साहित्य में आचरण-संबंधी मूल्यों की अवहेलना की। उसने कलाकार के उद्देश्य की ओर संकेत करते हुए लिखा—"शैली विशुद्ध सम्पूर्णता, उपयुक्त एक अनिवार्य शब्द की खोज, अपने सुख के लिए लिखना, किसी अन्य व्यक्ति की परवाह न करना, कभी-कभी जान-बूझकर सांसारिक भद्र पुरुषों की चेतना को क्षोभ देना—कलाकार की यही चेष्टा होनी चाहिए।"[1] ग्वेटियर की रचनाओं में भी आन्तरिक प्रेरणा का अभाव और वाह्य सौन्दर्य परिलक्षित होता है। इस प्रकार उसने साहित्य में सौन्दर्यवाद की अवतारणा करते हुए कलावादी सिद्धान्त को प्रश्रय दिया। ग्वेटियर के 'मेदाम माजलेदेमापिन' नामक उपन्यास में उसकी कलावादी दृष्टि का पूर्ण उन्मेष देखा जा सकता है। ग्वेटियर की सौन्दर्यवादी धारणा ने तत्कालीन साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया। इस सौन्दर्यवादी धारणा का प्रभाव काव्य के अतिरिक्त साहित्य की अन्य विधाओं—उपन्यास, नाटक इत्यादि—पर भी पड़ा। फ्लाबेयर और ज़ोला की यथार्थवादी एवं प्रकृतवादी विचारधाराओं का अभ्युदय इसी सौन्दर्यवादी धारणा का परिणाम था। प्रकृतवादी उपन्यासकारों ने साहित्य से आचार-मूल्यों का सर्वथा बहिष्कार किया। इस धारा के लेखकों ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि कलाकार का कार्य निष्कर्ष निकालना नहीं है। इन लेखकों ने कला को अपने आप में एक

1. पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त—श्री लीलाधर गुप्त, पृ० २२२

उपलब्धि माना। साहित्यगत आचारमूल्यहीनता की यह प्रवृत्ति प्रत्यक्षत: कलावाद को स्थापित कर रही थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में ग्वेटियर के सौन्दर्यवादी सिद्धान्त ने पारनेशियन सिद्धान्त का रूप ग्रहण किया। पारनेशियन सिद्धान्तवादियों ने कला का ध्येय स्वयं कला को ही ठहराते हुए कलावादी धारणा का पल्लवन किया। इस धारा के प्रमुख कवि ग्वेटियर, लेकान्त तथा हरदिया आदि थे। प्रकृतवाद तथा पारनेशियनिज्म की प्रतिक्रिया के रूप में प्रतीकवाद की अवतारणा हुई—

"In its origin the movement was a revolt against naturalism to concrete and against parnassianism as being too clear out."[1]

पारनेशियन कवि विषय को उसके यथार्थ रूप में ग्रहण कर के फिर उसी रूप में पाठक के सम्मुख प्रस्तुत कर देते थे। इन कवियों का प्रस्तुतीकरण रहस्यात्मक न होकर प्रायः सीधा एवं सपाट होता था। रहस्य के कारण विषयवस्तु को समझने के प्रयत्न में धीरे-धीरे विश्वास करने से जो एक विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है, वह पारनेशियन कविता में क्षीण रूप में विद्यमान रहता था। अत: प्रतीकवादियों ने काव्यानंद को प्रगाढ़ बनाने तथा काव्य को रहस्यात्मक रमणीयता से मण्डित करने की दिशा में विशेष प्रयास किये। इस प्रकार पारनेशियनिज्म तथा प्रकृतवाद के विरोध में प्रतीकवाद की स्थापना की गई।

प्रतीकवाद को फ्रांसीसी सौन्दर्यवाद की विकास-शृंखला की एक कड़ी के रूप में लिया जा सकता है। सी० एम० बावरा ने प्रतीकवाद को सौन्दर्यवाद का रहस्यात्मक संस्करण स्वीकार किया है।[2] प्रतीकवाद के संस्थापकों एवं पोषकों में बोदलेयर, मलार्मे, बर्लेन तथा बेलरी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। एडगर एलेन पो की सौन्दर्यवादी धारणा ने भी प्रतीकवाद को प्रभावित किया। पो की काव्य-विषयक सौन्दर्यवादी धारणा को उसके निम्नांकित शब्दों में देखा जा सकता है—

"अगर हम अपनी आत्मा की गहराई में डूबकर विचार करें तो पता

1. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, भाग २१, पृ० ३०१
2. हेरीटेज आफ सिम्बोलिज्म—सी० एम० बावरा, पृ० ३

चलेगा कि जो कविता केवल कवित्व के लिए रची गई है, कवित्व से आगे जिसका कोई लक्ष्य नहीं है, जो केवल कविता है अन्यथा कुछ भी नहीं, उस कविता से बढ़कर सुन्दर और गौरवपूर्ण कृति संसार में और दूसरी नहीं हो सकती।"[1] पो की इस धारणा ने प्रतीकवादी कविता को जीवन और जगत् के दायित्वों से मुक्तकर उसे कलावाद के समीप लाने में विशेष सहयोग प्रदान किया। इसके अतिरिक्त परंपरागत प्रतीकों के स्थान पर नवीन प्रतीकों के प्रयोग की प्रवृत्ति ने प्रतीकवादी कविता का व्यक्तिप्रधान स्वरूप निर्मित किया, इससे कलावाद का पथ और भी प्रशस्त हुआ। प्रतीकवादी धारा के वर्लेन, एफ० एल० लूकस इत्यादि व्यक्ति काव्य में निराचार एवं अनाचार को प्रश्रय दे रहे थे। इस सन्दर्भ में एफ० एल० लूकस का मत द्रष्टव्य है—

"Which means, in effect, I wish Art to be irresponsible in order that I may indulge without reproach my sadism, my masochism and my antiparental neurosis. For like all neurotics I find adult responsibility too harassing and prefer a second childhood."[2]

अर्थात् "मैं कला में उत्तरदायित्व को स्वीकर नहीं करता, जिससे मैं आत्मपीड़न, परपीड़न आदि न्यूरोसिस के सब लक्षणों का प्रदर्शन कर सकूँ। स्नायुव्यतिक्रम के रोगी की भाँति मैं वयस्क जीवन के उत्तरदायित्व को अत्यन्त कठोर समझता हूँ तथा एक दूसरी बाल्यावस्था में पलायन पसन्द करता हूँ।" उत्तरदायित्व से पलायन की इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप काव्य में कलावाद का प्रभाव क्रमशः बढ़ने लगा। जे० के० हिज़मेन के उपन्यास 'अ रेवरस' (A. Rebours) में 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त का चरमोत्कर्ष देखा जा सकता है। लेखक ने उपन्यास के नायक को एक विशेष प्रकार का चरित्र प्रदान किया है। कल्पना उसके जीवन का परम सत्य है। नायक एक कमरे में बन्द रहता है और अनेक कल्पनाओं में सोया रहता है। उसका कमरा अद्भुत वस्तुओं से सुसज्जित रहता है। उदाहरणार्थ, एक भयानक मकड़ी का चित्र है, जिसके मध्य भाग में एक मनुष्य की मुखाकृति है।

अपनी उद्भव-भूमि फ्रांस के पश्चात् 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त ने इंगलैण्ड के कला और साहित्य में प्रवेश किया। इंगलैण्ड में रस्किन कला को मानव-जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध कर रहा था। रस्किन की उपयोगितावादी

1. शुद्ध कविता की खोज—रामधारीसिंह 'दिनकर', पृ० ४२
2. लिट्रेचर एण्ड सायकोलोजी—एफ. एल. लूक्स, पृ० २३४

विचार-धारा के विरोध में ह्विसलर ने अपना कलावादी मत प्रस्तुत किया। उसने उपदेश तथा नैतिक शिक्षा आदि के स्थान पर सौन्दर्य-सृष्टि को ही कला का उद्देश्य निर्धारित किया—

"Art is selfishly occupied with her own perfection only—having no desire, only seeking and finding the beautiful in all conditions and in all times."[1]

आस्कर वाइल्ड ने ह्विसलर की कलावादी दृष्टि का पूर्णतः समर्थन किया। उसने सौन्दर्यानुभूति को काव्य का चरम लक्ष्य मानते हुए काव्य और सदाचार के कार्य-क्षेत्रों को पृथक्-पृथक् ठहराया। इस सन्दर्भ में वाइल्ड का निम्नांकित मत द्रष्टव्य है—

"Beauty is the symbol of symbols. Beauty reveals everything, because it expresses nothing."[2]

वाइल्ड के 'ए पिक्चर आव डोरियन ग्रे' उपन्यास में कलावादी दृष्टि का उन्मेष हुआ है। लेखक ने इस उपन्यास में आचार-आदर्शों का पूर्णतः निराकरण किया है।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वच्छन्दतावादी आलोचकों ने 'कला, कला के लिए' आन्दोलन को और भी गति प्रदान की। इन आलोचकों में वाल्टर पेटर का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। पेटर की कला-विषयक मान्यताओं का मेरुदण्ड सौन्दर्य है। वह सौन्दर्य के द्वारा मनःप्रसादन को ही काव्य का मुख्य प्रयोजन मानता है। "काव्य प्रमाता के आभ्यन्तर में आनन्दोन्माद की रत्न-शिखा-सदृश ज्वाला प्रदीप्त कर देता है।"[3] पेटर ने सौन्दर्य, आनंद तथा अनुभूति को काव्य के प्रमुख कारक-तत्त्व घोषित कर कलावादी मूल्यों की प्रतिष्ठा की। काव्यगत अनुभूति के संबंध में उसकी धारणा द्रष्टव्य है—

"Nothing as the fruit of experience, but experience itself, is the end."[4]

जे० ई० स्पिनगॉर्न, क्लाइवबेल तथा ए० सी० ब्रेडले की काव्य-संबंधी धारणाओं में उनकी कलावादी अभिरुचि के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। स्पिनगॉर्न

1. दी जेंण्टिल आर्ट आव मेकिंग एनीमीज़—ह्विसलर, पृ० १३६
2. इण्टेन्शन्स—आस्कर वाइल्ड, पृ० १४५
3. रेनेसां—प्रथम संस्करण—वाल्टर पेटर (ह्विमसैट तथा ब्रुक्स की लिटरेरी क्रिटिसिज्म: ए शोर्ट हिस्ट्री, पृ० ४८६
4. वही, पृ० ४८६

नैतिकता तथा अनैतिकता को काव्यमूल्यांकन के प्रतिमानों के रूप में स्वीकार नहीं करता है—"शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार या दुराचार ढूंढ़ना ऐसा ही है जैसा कि रेखागणित के समबाहु त्रिभुज को सदाचार पूर्ण और विषमबाहु त्रिभुज को दुराचार पूर्ण कहना ।"[1] क्लाइववेल कला में आचारगत या समाजगत मूल्यों को स्वीकार नहीं करता । वह जीवन और साहित्य के संबंध को भी अस्वीकार करता है—

To appreciate a work of Art we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarrity with its emotions "[2]

क्लाइववेल काव्य में शिल्प-विधान को विशेष महत्त्व प्रदान करता है । वह काव्यगत रचना-रूपों की रमणीयता के महत्त्व को रेखांकित करते हुए लिखता है—

"— —— Certain forms and relations of forms stir our aesthetic emotions."[3]

ए. सी. ब्रेडले ने कलावादी सिद्धान्त को संतुलित रूप में प्रस्तुत किया। वह अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ऑक्सफोर्ड लैक्चर्स आन पोयट्री' में 'कला, कला के लिए' की व्याख्या करते हुए लिखता है - "अस्तु, इस अनुभव के संबंध में 'काव्य, काव्य के लिए' सूत्र क्या कहता है ? जहाँ तक मैं समझता हूँ, उससे निम्न बातें व्यक्त होती हैं : एक तो यह है कि यह अनुभव स्वयं अपना साध्य है, वह अपने ही कारण ग्राह्य है, उसका अन्तरंग मूल्य है । दूसरे यह कि इसका काव्य-मूल्य यह अन्तरंग गुण ही है । संस्कृति अथवा धर्म का साधन होने के नाते काव्य का बहिरंग मूल्य भी हो सकता है, उससे शिक्षा मिलती है, वासनाओं का संस्कार होता है, किसी श्रेयस्कर प्रयोजन को प्रोत्साहन मिलता है, क्योंकि उससे कवि को यश, अर्थ या निर्विकार अन्तःकरण की उपलब्धि होती है । इन सबका महत्त्व है : इन सब कारणों से भी काव्य की प्रतिष्ठा होने दीजिए । किन्तु यह बहिरंग मूल्य काव्य-मूल्य नहीं है, और न यह प्रत्यक्षतः उसका निर्धारण ही कर सकता है । काव्य मूल्य तो परितोषकारी कल्पनात्मक अनुभव है, और उसका मूल्यांकन पूर्णतः आभ्यंतरिक ही हो सकता है । इन दो

1. चिन्तामणि (भाग २)—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १८५
2. आर्ट—क्लाइववेल, पृ० २५
3. वही, पृ० ८

बातों के अतिरिक्त यह सूत्र एक तीसरी बात भी कहता है । यद्यपि यह आवश्यक नहीं । काव्य-सृजन की प्रक्रिया में कवि द्वारा अथवा अनुभव की प्रक्रिया में पाठक द्वारा बहिरंग मूल्यों की ओर ध्यान देने से काव्य मूल्य के क्षय की आशंका रहती है ।"[1]

स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन से प्रेरित होकर इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक क्रोचे ने काव्य में अभिव्यंजनावाद की अवतारणा की। क्रोचे के अनुसार कलात्मक सृजन सहजानुभूति की क्रिया है । यह सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है । यह अभिव्यंजना आन्तरिक होती है । इस प्रकार अनुभूति, अभिव्यंजना और कविता तीनों वस्तुतः एक ही हैं । कलाकार कला-सृजन में विशुद्ध आत्म-सुख के कारण प्रवृत्त होता है । वह अपनी सहजानुभूति को बाह्य आकार भी प्रदान कर सकता है, किन्तु यह कला-सृजन का आवश्यक अंग नहीं है । इस सन्दर्भ में क्रोचे का निम्नलिखत अभिमत द्रष्टव्य है—"यह समझना एक भूल होगी कि कविता का छन्द अपने स्वरों द्वारा हमारी श्रवणेन्द्रिय को उत्तेजित कर हमें आनन्दोन्माद से भर देता है । वस्तुतः कविता हमारी कल्पना की उद्दीप्ति द्वारा हमारे भावों को उदबुद्ध कर हमें आनन्द प्रदान करती है ।"[2] इस प्रकार आत्मवादी दार्शनिक क्रोचे ने कविता को अमूर्त एवं वायवी स्वरूप प्रदान कर उसे समाज से विच्छिन्न कर दिया और साहित्य में कलावादी चिन्तन को प्रोत्साहन दिया ।

बीसवीं शताब्दी के प्रबल विचारक सिगमण्ड फ्रायड के मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त के रूप में कलावादी मान्यताओं की संपुष्टि हुई । कविता-सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए फ्रायड लिखता है—

"The artist is originally a man who turns from reality because he can not come to terms with the demand for the renunciation of instinctual satisfaction as it is first made, and who then in phantasy–life allows full play to his erotic and ambitious wishes. But he finds a way of return frmo this world of phantasy back to realty, with his special gifts, he moulds his phantasy into a new kind of reality and men concede them a justification as valuable reflections of actual

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा—(प्रधान सम्पादक) डा० नगेन्द्र, पृ० २३३-२३४
2 डिफेन्स आव पोयट्री (आक्सफोर्ड लैक्चर)—बेनदेत्तो क्रोचे, पृ० ४२३

life; thus by a certain path he actually becomes the hero, king, creator, favourite, he desired to be without the circuitous path of creating real attractions in the outer world."[1]

अर्थात् "कलाकार मूलतः ऐसा प्राणी है, जो कठोर वास्तविकता से पलायन करता है, क्योंकि पहले उन वर्जनाओं को जो उसकी अन्तर्वृत्तियों को अभुक्त रखने की माँग करती हैं, स्वीकार कर, वह उस स्थिति से संतुष्ट नहीं रह पाता। अतः वह कल्पना जगत् में अपनी रति भावनाओं और महत् इच्छाओं की पूर्ति का विराट् आयोजन करता है। पर इस छाया जगत् से वास्तविक जगत् की ओर पुनः लौटने का मार्ग भी उसे मिल जाता है। अपनी असाधारण प्रतिभा के द्वारा वह इन छायाचित्रों को एक नए प्रकार की वास्तविकता में परिवर्तित कर देता है और समाज उन्हें गम्भीर चिन्तन के रूप में स्वीकार कर अपने को कलाकार का कृतज्ञ मानता है। अतः एक विशिष्ट ढंग को अपनाकर वह बाह्य जगत में परिवर्तन लाने के कठिन मार्ग को अपनाए बिना सचमुच आदर्श व्यक्ति, नेता, स्रष्टा और लोगों का प्रेमपात्र बन जाता है, जिसकी कि उसे आकांक्षा रहा करती है।"

इस प्रकार फ्रायड के कविता सिद्धान्त के मुख्य-मुख्य बिन्दु निम्नांकित हैं, जो कलावाद के संपोषक कहे जा सकते हैं—

(i) कला (कविता) दमित वासना का उदात्तीकरण है।

(ii) कला सृजन में अभुक्त काम-प्रतीकों के रूप में प्रकट होती है।

(iii) कला जीवन से पलायन के क्षणों की सृष्टि है।

पाश्चात्य साहित्य में प्राप्त कलावाद विषयक निरूपण को, संक्षेप में निम्नवत् रखा जा सकता है—

साहित्य के क्षेत्र में कलावादी सिद्धान्त का अवतरण एक ऐतिहासिक आवश्यकता का परिणाम है। यह सिद्धान्त समान-धर्मा अनेक वादों-सिद्धान्तों (प्रकृतवाद, अतियथार्थवाद, पारनेशियन सिद्धान्त, प्रतीकवाद, व्यक्तिवाद, सौन्दर्यवाद, स्वच्छन्दतावाद, अभिव्यंजनावाद, मनोविश्लेषणवाद इत्यादि) से प्रत्यक्ष और परोक्षरूप में पोषक तत्त्व ग्रहण करते हुए अपने उद्भव से लेकर विकास पर्यन्त किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा है।

(२) भारतीय सन्दर्भ—साहित्य के प्रति भारतीय विद्वानों एवं समीक्षकों की दृष्टि मूलतः उपयोगितावादी रही है। अतः इन विद्वानों ने कलावाद

1. कलैक्टेड पेपर्स (दी रिलेशन आव दी पोइट टू डे ड्रीमिंग—सिगमण्ड फ्रायड, पृ० १८३

साज-शृंगार किया है। आचार्य केशव ने अलंकार को काव्य का नित्य धर्म माना है—

जदपि सुजाति सुलच्छिनी सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न विराजई कविता वनिता मित्त।

आधुनिक काल में डॉ० श्यामसुन्दर दास ने अपनी समीक्षा-पुस्तक साहित्यालोचन में वर्सफोर्ड की "जजमेन्ट इन लिटरेचर" नामक पुस्तक के आधार पर कला का विवेचन किया है। उन्होंने इस कला-विवेचन के अन्तर्गत 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त का भी संक्षिप्त परिचय दिया है। इस परिचय में संकलन की प्रवृत्ति ही अधिक है। वे इस सिद्धान्त के अतिवादी स्वरूप को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि कला को जीवन और समाज से विच्छिन्न करके देखना उन्हें साहित्य की स्वस्थ परम्परा के प्रतिकूल लगता है। डॉ० दास के कला-विवेचन में कहीं-कहीं परस्पर विरोधी कथन भी पाया जाता है। वे कलागत सहज सौन्दर्य एवं भावव्यंजन को महत्त्व प्रदान करते हुए कलावाद के सहज और संतुलति स्वरूप की संपुष्टि करते हैं। इस सन्दर्भ में उनका निम्नांकित कथन ध्यातव्य है—

"तथाकथित आदर्शवादी समीक्षक कलाओं के वास्तविक सत्य को न समझ कर धार्मिक विचार से उनकी तुलना करते हैं। उनके लिए धार्मिक आदेशों का शुष्क रूप ही श्रेष्ठ कला का नियन्ता तथा मापदण्ड बन जाता है। ये कला-समीक्षक किसी सुन्दरतम सुगठित मूर्ति का सहज सौन्दर्य सहन नहीं कर सकते हैं, जो उसमें प्रस्फुटित हो रहा है। उनमें कल्पना का इतना अभाव होता है कि कलाओं की भावव्यंजना उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखती। वे केवल उनके बाह्यरूप को ही अपने रूढ़िबद्ध आचार-विचारों की कसौटी पर कसते हैं।"[1]

"छायावाद की कविता पर कल्पनावाद, कलावाद, अभिव्यंजनावाद आदि का प्रभाव ज्ञात या अज्ञात रूप मे पड़ा है।"[2] यद्यपि कोई भी छायावादी कवि स्पष्ट रूप से काव्य को कलावादी स्वरूप प्रदान करने के पक्ष में नहीं रहा, तथापि छायावादी कविता में कल्पना के उद्दाम विलास और लाक्षणिक वैचित्र्य के प्रदर्शन में कलावाद की संपुष्टि देखी जा सकती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रसंगवश 'हिन्दीसाहित्य का इतिहास' में कलावाद के संबंध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। उन्होंने कलावाद का संक्षिप्त

1. साहित्यालोचन : डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० ७२
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६७४

हीनता तथा जीवनेच्छा) से मिलती है। अवचेतनगत दमित वासनाएँ प्रवृत्ति-मूलक और सामाजिक चेतना से विच्छिन्न होती हैं। इसीलिए साहित्य सामाजिक की अपेक्षा व्यक्तिगत अधिक होता है।[1] मनोविश्लेषणवादी समीक्षकों में इलाचन्द्र जोशी और सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' प्रमुख हैं। श्री इलाचन्द्र जोशी मूलतः कथाकार हैं। 'साहित्य सर्जना', 'विवेचन विश्लेषण', 'साहित्य-संतरण', 'साहित्य-चिन्तन' इत्यादि निबन्ध-संग्रहों में आपकी मनोविश्लेषणवादी समालोचना प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। श्री जोशी के निम्नांकित कथन कलावादी चिन्तन के परिचायक माने जा सकते हैं —

१—"कवि या कलाकार की कृतियाँ उसके अन्तस्तल में दबी हुई भावनाओं की ही प्रतीक होती हैं।"[2]

२—"विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है, उसके भीतर नीतितत्त्व या शिक्षा का स्थान नहीं, उसके अलौकिक मायाचक्र से हमारे हृदय की तंत्री आनन्द की झंकार से वज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्त्व की खोज करना सौन्दर्य-देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।"[3]

'अज्ञेय' बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार हैं। उन्होंने उपन्यास, कहानी, कविता, निवन्ध तथा समीक्षा आदि विधाओं में लेखन-कार्य किया है। अज्ञेय के साहित्य और विचारधारा दोनों पर फ्रायड तथा एडलर के सिद्धान्तों का प्रभाव परिलक्षित होता है। वे अन्य मनोविश्लेषणवादी समीक्षकों की अपेक्षा सामाजिक चेतना को अधिक महत्त्व देते हैं, परन्तु इसमें आधुनिक समाजवाद की गन्ध नहीं आने देते। अज्ञेय आज के व्यक्ति को यौन वर्जनाओं का पुंज तथा उनकी सौन्दर्य-चेतना को यौन-प्रवृत्ति से आक्रान्त मानते हैं। वे साहित्य में इनकी अभिव्यक्ति को महत्त्व प्रदान कर अपने कलावादी रुझान का परिचय देते हैं। उनका प्रयोगवाद-विषयक विश्लेषण प्रमुखतः यौनवर्जनाओं पर आधारित है। इस सन्दर्भ में उनका निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है— "आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुण्ठित हैं। उसकी सौन्दर्यचेतना भी उससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते है।"[4]

1. हिन्दी आलोचना का इतिहास : डा० रामदरश मिश्र, पृ० ३७८
2. विवेचन-विश्लेषण : इलाशचन्द्र जोशी, पृ० ५४
3. साहित्य-सर्जना : ,, ,, , पृ० १५
4. त्रिशंकु : अज्ञेय, पृ० ७८

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दीसाहित्यकारों का कलावाद विषयक विवेचन पाश्चात्य विद्वानों की मान्यताओं से प्रभावित है। इन साहित्यकारों ने कलावाद तथा उपयोगितावाद में समन्वय लाने की चेष्टा करते हुए कलावाद का भारतीयकरण भी किया है।

(ग) कलावाद : सामान्य विशेषताएँ

पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों-समीक्षकों के कलावाद के प्रकृति एवं स्वरूप के विवेचन के आधार पर हम कलावाद की सामान्य विशेषताओं को निम्नांकित रूप में रख सकते हैं—

१. कला सत्य, नीति एवं उपयोगिता के सभी बन्धनों में सर्वथा मुक्त है।
२. काव्य की सृष्टि आत्मसुख के लिए की जाती है।
३. काव्य के आन्तरिक पक्ष की अपेक्षा उसके बाह्यपक्ष पर विशेष ध्यान केन्द्रित रहता है।
४. कला (कविता) शुद्ध कला है, और कला का उद्देश्य स्वयं कला ही है।
५. कला आनंद की सृष्टि है।
६. कलाजन्य आनंद को प्रगाढ़ बनाने के लिए उसमें आध्यात्मिकता एवं रहस्यात्मकता का सन्निवेश किया जाता है।
७. कविता नीति एवं उपदेश के स्थान पर सौन्दर्यसृष्टि को अपना ध्येय मानती है।
८. कला और काव्य में रचना-रूपों की रमणीयता का विशेष महत्त्व है।
९. काव्य में कल्पना का महत्त्वपूर्ण स्थान है।
१०. काव्य में दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति की जाती है।
११. अनुभूति, अभिव्यक्ति और कला (कविता) वस्तुतः एक (अभिन्न) हैं।
१२. काव्यानंद समाज-निरपेक्ष और अलौकिक होता है।
१३. काव्य में प्रेमपरक प्रगीत-मुक्तकों की रचना का आधिक्य रहता है।
१४. कविता में अप्रस्तुत-विधान तथा उक्ति-वैलक्षण्य का अत्यधिक महत्त्व है।

कलावाद में नीतिविरुद्ध, अनुपयोगी एवं जीवन को निष्क्रिय बनाने वाले विषयों का आविर्भाव होता है; किन्तु अभिव्यंजना-कौशल की प्रवृत्ति के कारण काव्य के भाषा, शैली, छन्द इत्यदि को सुसज्जित, उदात्त एवं कान्त कलेवर प्राप्त होता है। हम कलावाद की साहित्यिक प्रवृत्तियों को निम्नांकित रूप में रख सकते हैं—

(१) अतिशय कल्पनाशीलता— आत्मोन्मुखता और मनोविनोद का आधार प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति के कारण कलावादी साहित्य में अतिशय कल्पना-शीलता का आविर्भाव होता है। आत्म-केन्द्रित कलावादी कवि बाह्य जगत् (दृश्यलोक) से सम्बन्ध-विच्छेद कर अपने मनोजगत् (कल्पनालोक) में स्वच्छन्द विहार करता है। वह प्रमाता के मनोविनोद के लिए वैचित्र्य, जिज्ञासा, विस्मय-विमुग्धता एवं अलौकिकता की सृष्टि-हेतु अतिकल्पना का आश्रय लेता है।

कलावादी कल्पना वर्ण्य विषय की गहन अनुभूति कराने की अपेक्षा अपनी विलक्षणता के कारण मन को आह्लादित करती है। यह कल्पना जीवन से अनुप्राणित न होने के कारण मन पर स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ पाती है। हम कल्पना-प्रधान कलावादी कविता की व्याख्या कुछ इसप्रकार कर सकते हैं— "कविता को पढ लीजिए, उससे मनोरंजन कीजिए और फिर उसे भूल जाइए। रात्रि को देखे हुए मधुर स्वप्न के समान आपने उसका आनन्द भोगा, परन्तु वास्तविक जाग्रत् जगत् में यह स्वप्न न आपके किसी काम का है, और न जगत् का।"[1]

२. निश्चेष्ट सौन्दर्यांकन— नीति और उपयोगिता के बन्धनों से सर्वथा मुक्त होने के कारण कलावाद में निश्चेष्ट सौन्दर्यांकन को बल मिलता है। जो सौन्दर्य चटुल अंग-भंगिमाओं के साथ यौवन की श्रृङ्गारिक ऊष्मा उद्दीप्त करता हुआ, स्थूल ऐन्द्रिय धरातल पर उपस्थित होता है, उसे निश्चेष्ट सौन्दर्य कहा जा सकता है। महाकवि निराला ने इस प्रकार के सौन्दर्य को वेश्या-सौन्दर्य (वारांगना-सौन्दर्य) की संज्ञा प्रदान की है। निश्चेष्ट सौन्दर्य-वर्णन जीवन-जगत् के किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रेरित नहीं करता। इस प्रकार के सौन्दर्य में आशा, विश्वास या उद्बोधन की प्राण-शक्ति नहीं होती है। यह सौन्दर्य मात्र शब्दों का जोड़ होता है जो स्वप्नवत् क्षणिक मनोरंजन करता है और बस।

३. स्वच्छन्द प्रेम का वर्णन—आनन्दवादी हलकी धारणा, वैयक्तिक

1. हिन्दी-साहित्य में विविधवाद : डा० प्रेमनारायण शुक्ल, पृ० ६४

चिन्तन तथा समाज-निरपेक्षता आदि कलावादी विशेषताओं के समवेत प्रभाव के परिणाम स्वरूप उसकी प्रेम-भावना का स्वच्छन्द रूप निर्मित होता है। यह स्वच्छन्द प्रेम वासना, विलासिता एवं निर्बाध संभोग की भित्तियों पर आधृत रहता है। इस प्रकार काव्य में नग्न एवं अश्लील शृंगार-वर्णनों का आधिक्य हो जाता है। पाठक इन शृंगारी भावनाओं में निमग्न होकर शेष समाज से संबंध विच्छेद कर लेता है और फिर अपने ही सुख-दुख की तीन लोक से न्यारी मथुरा में रमण करता है। यह निर्बाध एवं स्वच्छन्द प्रेम किसी स्वस्थ जीवन-दृष्टि का उन्नायक नहीं होता है।

४. रहस्यात्मकता—कलावादी कवि वैयक्तिकता को विशेष महत्त्व देता है। वह अपनी वैयक्तिक भावनाओं को, जो प्रमुखतः सौन्दर्याश्रित होती हैं, रहस्यात्मक आवरण में प्रस्तुत करता है। कलावाद में रहस्य-भावना की स्वीकृति का एक अन्य कारण उसकी मनःप्रसादन की प्रवृत्ति को भी माना जा सकता है। स्पष्ट कथन से कविता के आनन्द का अधिकांश क्षीण हो जाता है, जबकि रहस्यात्मकता के कारण पाठक या श्रोता का मन वर्ण्यवस्तु को धीरे-धीरे ग्रहण करता है, और इस प्रक्रिया में उसको अपेक्षाकृत अधिक समय तक एक प्रकार की आनन्दानुभूति होती रहती है।

५. वैयक्तिकता—समाज एवं जीवन के प्रति उदासीनता की प्रवृत्ति के कारण कलावादी काव्य में वैयक्तिकता का सन्निवेश हो जाता है। कलावाद में वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति प्रायः दो रूपों में मिलती है—एक, विषय पर विषयी की भावनाओं का आरोपण, अर्थात् वस्तु या घटना आदि को व्यक्तिगत भावनाओं में रँग कर देखना। (यहाँ ध्यातव्य है कि कलावादी व्यक्तिगत भावनाओं का संबंध मुख्यतः निश्चेष्ट सौन्दर्य तथा स्वच्छन्द एवं वासनापरक प्रेम से होता है।) दूसरे, समष्टि (समाज) से निरपेक्ष होकर व्यष्टि में ही लीन रहना। व्यक्तिवादी कवि के लिए उसका हृदय ही संसार हो जाता है, और वह अपनी आशा-निराशा-समन्वित मदिर-मादक भावनाओं के एकान्त चित्रण में ही कवि-कर्तव्य की इतिश्री समझता है। इस प्रकार कलावादी वैयक्तिकता की यह धारणा व्यक्ति के कलाकार रूप को उसके नागरिक रूप से अलग करके देखती है और काव्य-सृजन के लिए उसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानती है।

६. निराशावादी जीवन-दर्शन—सत्य, नीति एवं उपयोगिता के बन्धनों से मुक्ति, समाज-निरपेक्षता, आत्मपीड़न तथा रोमांसवाद आदि कलावादी विशेषताओं के कारण काव्य में निराशावाद की अवतारणा होती है।

कलावादी कवि सत्य, नीति, एवं उपयोगिता से मुक्ति तथा समाज-निरपेक्षता की दृष्टि लेकर चलने के कारण जीवन के निषेधात्मक तथा निष्क्रिय पक्ष (वेदना, निराशा, चिन्ता, गलदश्रु भावुकता इत्यादि) के वर्णन में प्रवृत्त होता है। कलावाद की आत्मपीड़न एवं रोमांसवाद की धारणाएँ काव्य को निराशावादी स्वरूप प्रदान करती हैं। कलावादी साहित्यकार निराशा में भी एक विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति करता है। अतः उसे निराशा, वेदना, दुःख, पीड़ा इत्यादि सुखद एवं प्रिय लगते हैं। निराशावादी जीवन-दृष्टि को मनुष्य की पराजित मनोवृत्ति का परिचायक माना जा सकता है, जो उसे जीवन-जगत् से उदासीन रखते हुए अकर्मण्य एवं निष्क्रिय बना देती है।

७. कलात्मक भाषा का प्रयोग—मनोरंजन और शिल्पगत साज-सज्जा की प्रवृत्तियों के कारण कलावादी कवि भाषा-प्रयोग के प्रति विशेष सजग एवं जागरूक रहता है। इस जागरूकता का उद्देश्य भाषा में लालित्य एवं रमणीयता का सन्निवेश करना होता है। अतः कलावादी भाषा का अलंकृत समास-संधि-प्रधान, कलात्मक एवं अभिजात रूप निर्मित होता है। अपनी विभिन्न कलात्मक भंगिमाओं के कारण कलावादी भाषा जनसाधारण की समझ से परे हो जाती है। इस प्रकार यह भाषा 'बहुजन हिताय' एवं 'बहुजनसुखाय' न होकर एक विशिष्ट वर्ग की भाषा बन बन कर रह जाती है।

८. प्रगीतात्मक मुक्तक-शैली—कलावाद काव्य की विशुद्धता का पक्ष-धर है। वह काव्य के अन्तर्गत, धर्म, नीति या उपदेश को स्थान नहीं देता है। कलावाद में "जीवन की विविध मार्मिक दशाओं को प्रत्यक्ष करने वाले प्रबन्ध काव्यों की ओर से उदासीनता और प्रेम-संबंधी मुक्तकों या प्रगीत-मुक्तकों (Lyrics) की ओर अत्यन्त अधिक प्रवृत्ति"[1] पायी जाती है।

९. नूतन छन्द-रचना—कलावाद अभिव्यंजना की अपनी अत्यन्त मनोरम पद्धति के अनुरूप ललित एवं उदात्त छन्द-रचना को प्रश्रय देता है। स्वच्छन्दता, नूतनता, प्रगीतात्मकता, मधुरता संगीतात्मकता इत्यादि कला-वादी छन्द-विधाय की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

१०. अलंकारों का प्राचुर्य—शैलिपक साज-सज्जा अप्रस्तुत रूप-विधान, उक्ति वैलक्षण्य एवं मनःप्रसादन की अवधाणाओं के कारण कलावादी

1. चिंतामणि (भाग २) : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० १६४-१६५

कविता में अलंकारों का प्राचुर्य स्वाभाविक रूप से हो जाता है। कलावाद की अलंकार-योजना स्वच्छन्दता, नवीनता, मनोरमता, मौलिकता इत्यादि विशेषताओं से पूर्ण होती है। कवि के तात्कालिक (किन्तु अस्थायी) प्रभाव डालने चौंकाने और पाण्डित्य प्रदर्शन के प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप यह अलंकार-योजना अपने अतिवादी रूप में भी प्रकट होती है।

११. नवीन प्रतीकों की योजना—प्रत्यक्ष कथन से काव्य का आनन्द बहुत कुछ क्षीण पड़ जाता है। प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति में काव्य का आनन्द धीरे-धीरे प्राप्त होता है जो पाठक या श्रोता को अपेक्षाकृत अधिक समय तक विभोर किए रहता है। इसलिए कलावादी काव्य में प्रतीक योजना के विशेष महत्व प्रदान किया जाता है। कलावादी कवियों द्वारा प्रतीकों को महत्व दिए जाने का एक अन्य कारण शिल्पगत चारुता लाना है। कलावाद की स्वच्छन्द एवं वैयक्तिक प्रकृति के कारण उसके प्रतीक विधान में परंपरा-पालन की अपेक्षा नवीन एवं मौलिक प्रयोगों की प्रवृत्ति अधिक पायी जाती है।

१२. बिम्बाश्रित भाव्य-व्यंजना—कलावाद की बिम्बाश्रित भाव्य-व्यंजना उसकी शैल्पिक कौशल-रूपायन की अभिरुचि का अंगरूप मानी जा सकती है। कलावादी काव्य में बिम्बों के माध्यम से वस्तु एवं भाव का बोधगम्य, मोहक, प्रभावपूर्ण मूर्त रूप प्रस्तुत किया जाता है।

(ङ) काव्य और कलावाद

काव्य का मूल्यांकन करते समय विभिन्न वर्ग के विद्वान—समीक्षकों के समक्ष कुछ प्रश्न उपस्थित होते रहे हैं। पाश्चात्य एवं भारतीय समीक्षाशास्त्र पर दृष्टि डालने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। किसी वर्ग के आलोचकों ने काव्य-रचना के उद्देश्य के आधार पर उसकी सार्थकता एवं महत्ता सिद्ध करने के प्रयास किये हैं, तो किसी अन्य वर्ग के आलोचकों ने मनोरंजन एवं आनन्द की प्राप्ति, तथा कवि के वैयक्तिक लाभ (धन, यश इत्यादि) को काव्य मूल्यों के रूप में रेखांकित किया है। कुछ विद्वानों ने प्रकाशन—कौशल में ही काव्य-सौन्दर्य की अवस्थिति मानकर उसे वरेण्य ठहराया है। काव्य की मूल्यांकन संबंधी मानक धारणाओं को स्थूलतः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) रूपवादी धारणा—पाश्चात्य समीक्षक काव्य-सौन्दर्य की स्थिति रूपसृष्टि अथवा अभिव्यंजना में मानते हैं। इन विद्वानों के अनुसा अभिव्यंजना ही काव्य का प्राणतत्त्व और अन्तिम उद्देश्य है। कवि की वैयक्तिक अनुभूति, जो विशिष्ट होती है, अपनी अभिव्यक्ति के लिए

वैचित्र्य पूर्ण (विशिष्ट) शैली का स्फुरण स्वयं कर लेती है। रूपवादी समीक्षक काव्य में वस्तु तत्त्व की अपेक्षा रूपतत्त्व को अधिक महत्त्व देते हैं, इसीलिए ये काव्य-रचना के लिए किसी महान प्रेरणा की आवश्यकता न मानकर कवि की सहजानुभूति (intuition) अथवा छोटे से छोटे प्रभाव को भी प्रतिपाद्य विषय मान लेते हैं। इस धारणा के प्रतिपादक विद्वानों में क्रोचे, वाल्टर पेटर क्लाइवबेल, ए० सी० ब्रेडले फ्लॉवर्ट इत्यादि 'प्रमुख हैं।'

अलंकार-संप्रदाय के समर्थक आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट वक्रोक्ति-संप्रदाय के आचार्य कुन्तक और रीति-संप्रदाय के आचार्य वामन आदि अभिव्यंजना के बाह्य उपादानों को महत्त्व देते हैं। अतः ये आचार्य भी देहवादी या रूपवादी धारणा के पक्षधर हैं।

(२) वस्तुवादी धारणा—अरस्तू, दान्ते, गेटे, टॉलस्टॉय, मैथ्यूआर्नल्ड इत्यादि पाश्चात्य विद्वान काव्य में अर्थ, वस्तु अथवा भाव को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान कर उसी में काव्य-सौन्दर्य का कारण निहित मानते हैं। भारतीय साहित्य शास्त्र के ध्वनिसंप्रदाय (आचार्य आनन्दवर्धन) तथा रस संप्रदाय (भट्टनायक, भरतमुनि, विश्वनाथ इत्यादि आचार्य) भी आत्मवादी हैं, जो ध्वनि तथा रस आदि के समक्ष बाह्य उपकरणों को गौण मानते हैं।

(३) समन्वयवादी धारणा—इस वर्ग के विद्वानों का दृष्टिकोण समन्वय-परक है। ये विद्वान शब्द (कलापक्ष) और अर्थ (वस्तु पक्ष) का सम्बन्ध क्रमशः शरीर और आत्मा के समान मानकर दोनों के समन्वय को काव्य की संज्ञा प्रदान करते हैं। इस धारणा के प्रमुख संपोषक हीगेल, काण्ट, नीत्शे, रस्किन, कोलरिज, कीट्स, ड्राइडन इत्यादि हैं।

भारतीय रूपवादी तथा वस्तुवादी आचार्यों ने भी काव्य में शब्द और अर्थ की समान गुरुता स्वीकार, कर अपनी समन्वयवादी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। भामह[1], दण्डी,[2] रुद्रट,[3] आनन्द वर्धन,[4] वामन[5] क्षेमेन्द्र[6] इत्यादि आचार्यों के विचारों में समन्वय की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

उपरिवर्णित रूपवादी (देहवादी) धारना कलावाद की समीप वर्तिनी ठहराई, जा सकती है। कलावाद काव्य की रचना-प्रक्रिया का वह दर्शन है,

1. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—काव्यालंकार
2. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली—काव्यादर्श
3. ननु शब्दार्थौ काव्यम्—काव्यालकार सूत्रवृत्ति
4. शब्दार्थ शरीरं तावेत्काव्यम्—ध्वन्यालोक
5. काव्यशब्दोऽयं गुणालकार सस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्शते
6. औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम—औचित्यविचार।

कविता में अलंकारों का प्राचुर्य स्वाभाविक रूप से हो जाता है। कलावाद की अलंकार-योजना स्वच्छन्दता, नवीनता, मनोरमता, मौलिकता इत्यादि विशेषताओं से पूर्ण होती है। कवि के तात्कालिक (किन्तु अस्थायी) प्रभाव डालने चौंकाने और पाण्डित्य प्रदर्शन के प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप यह अलंकार-योजना अपने अतिवादी रूप में भी प्रकट होती है।

११. नवीन प्रतीकों की योजना—प्रत्यक्ष कथन से काव्य का आनन्द वहुत कुछ क्षीण पड़ जाता है। प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति में काव्य का आनन्द धीरे-धीरे प्राप्त होता है जो पाठक या श्रोता को अपेक्षाकृत अधिक समय तक विभोर किए रहता है। इसलिए कलावादी काव्य में प्रतीक योजना के विशेष महत्व प्रदान किया जाता है। कलावादी कवियों द्वारा प्रतीकों को महत्व दिए जाने का एक अन्य कारण शिल्पगत चारुता लाना है। कलावाद की स्वच्छन्द एवं वैयक्तिक प्रकृति के कारण उसके प्रतीक विधान में परंपरा-पालन की अपेक्षा नवीन एवं मौलिक प्रयोगों की प्रवृत्ति अधिक पायी जाती है।

१२. विम्बाश्रित भाव्य-व्यंजना—कलावाद की बिम्बाश्रित भाव्य-व्यंजना उसकी शैल्पिक कौशल-रूपायन की अभिरुचि का अंगरूप मानी जा सकती है। कलावादी काव्य में बिम्बों के माध्यम से वस्तु एवं भाव का बोधगम्य, मोहक, प्रभावपूर्ण मूर्त रूप प्रस्तुत किया जाता है।

(ङ) काव्य और कलावाद

काव्य का मूल्यांकन करते समय विभिन्न वर्ग के विद्वान—समीक्षकों के समक्ष कुछ प्रश्न उपस्थित होते रहे हैं। पाश्चात्य एवं भारतीय समीक्षाशास्त्र पर दृष्टि डालने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। किसी वर्ग के आलोचकों ने काव्य-रचना के उद्देश्य के आधार पर उसकी सार्थकता एवं महत्ता सिद्ध करने के प्रयास किये हैं, तो किसी अन्य वर्ग के आलोचकों ने मनोरंजन एवं आनन्द की प्राप्ति, तथा कवि के वैयक्तिक लाभ (धन, यश इत्यादि) को काव्य मूल्यों के रूप में रेखांकित किया है। कुछ विद्वानों ने प्रकाशन—कौशल में ही काव्य-सौन्दर्य की अवस्थिति मानकर उसे वरेण्य ठहराया है। काव्य की मूल्यांकन संबंधी मानक धारणाओं को स्थूलतः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) रूपवादी धारणा—पाश्चात्य समीक्षक काव्य-सौन्दर्य की स्थिति रूपसृष्टि अथवा अभिव्यंजना में मानते हैं। इन विद्वानों के अनुसा अभिव्यंजना ही काव्य का प्राणतत्त्व और अन्तिम उद्देश्य है। कवि की वैयक्तिक अनुभूति, जो विशिष्ट होती है, अपनी अभिव्यक्ति के लिए

वैचित्र्य पूर्ण (विशिष्ट) शैली का स्फुरण स्वयं कर लेती है। रूपवादी समीक्षक काव्य में वस्तु तत्त्व की अपेक्षा रूपतत्त्व को अधिक महत्त्व देते हैं, इसीलिए ये काव्य-रचना के लिए किसी महान प्रेरणा की आवश्यकता न मानकर कवि की सहजानुभूति (intuition) अथवा छोटे से छोटे प्रभाव को भी प्रतिपाद्य विषय मान लेते हैं। इस धारणा के प्रतिपादक विद्वानों में क्रोचे, वाल्टर पेटर क्लाइवबेल, ए० सी० ब्रेडले फ्लॉबर्ट इत्यादि 'प्रमुख हैं।'

अलंकार-संप्रदाय के समर्थक आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट वक्रोक्ति-संप्रदाय के आचार्य कुन्तक और रीति-संप्रदाय के आचार्य वामन आदि अभिव्यंजना के बाह्य उपादानों को महत्त्व देते हैं। अतः ये आचार्य भी देहवादी या रूपवादी धारणा के पक्षधर हैं।

(२) वस्तुवादी धारणा—अरस्तू, दान्ते, गेटे, टॉलस्टॉय, मैथ्यूआर्नल्ड इत्यादि पाश्चात्य विद्वान काव्य में अर्थ, वस्तु अथवा भाव को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान कर उसी में काव्य-सौन्दर्य का कारण निहित मानते हैं। भारतीय साहित्य शास्त्र के ध्वनिसंप्रदाय (आचार्य आनन्दवर्धन) तथा रस संप्रदाय (भट्टनायक, भरतमुनि, विश्वनाथ इत्यादि आचार्य) भी आत्मवादी हैं, जो ध्वनि तथा रस आदि के समक्ष बाह्य उपकरणों को गौण मानते हैं।

(३) समन्वयवादी धारणा—इस वर्ग के विद्वानों का दृष्टिकोण समन्वय-परक है। ये विद्वान शब्द (कलापक्ष) और अर्थ (वस्तु पक्ष) का सम्बन्ध क्रमशः शरीर और आत्मा के समान मानकर दोनों के समन्वय को काव्य की संज्ञा प्रदान करते हैं। इस धारणा के प्रमुख संपोषक हीगेल, काण्ट, नीत्शे, रस्किन, कोलरिज, कीट्स, ड्राइडन इत्यादि हैं।

भारतीय रूपवादी तथा वस्तुवादी आचार्यों ने भी काव्य में शब्द और अर्थ की समान गुरुता स्वीकार, कर अपनी समन्वयवादी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। भामह[1], दण्डी,[2] रुद्रट,[3] आनन्द वर्द्धन,[4] वामन[5] क्षेमेन्द्र[6] इत्यादि आचार्यों के विचारों में समन्वय की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

उपरिवर्णित रूपवादी (देहवादी) धारना कलावाद की समीप वर्तिनी ठहराई, जा सकती है। कलावाद काव्य की रचना-प्रक्रिया का वह दर्शन है,

1. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—काव्यालंकार
2. शरीर तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली—काव्यादर्श
3. ननु शब्दार्थौ काव्यम्—काव्यालकार सूत्रवृत्ति
4. शब्दार्थ शरीरं तावेत्काव्यम्—ध्वन्यालोक
5. काव्यशब्दोऽयं गुणालकार सस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्शते
6. औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्—औचित्यविचार।

जिसमें अभिव्यक्ति को तो अधिक-से-अधिक चमत्कार पूर्ण एवं आकर्षक बनाने का प्रयास रहता है, किन्तु सामाजिक उपयोगिता तथा सांस्कृतिक प्रयोजनों आदि की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। कलावाद की वस्तुगत तथा शिल्पगत मानक स्थापनाओं को निम्नांकित शीर्षकों में रखकर उनकी समीक्षा की जा सकती है—

(१) समाज–निरपेक्ष विषयवस्तु का चयन।
(२) निरुद्देश्य आनन्द की प्राप्ति।
(३) अतिशेय कल्पना शीलता।
(४) आग्रह पूर्ण शैल्पिक सज्जा।

कलावादी कलाकार की दृष्टि में अपने से भिन्न जगत का कोई महत्त्व नहीं है। वह जीवन-जगत से उदासीन रहकर अपने अन्तर्लोक की यात्राओं में प्रवृत्त होता है। कवि के मन की वे इच्छाएँ जो समाज में बंधनों के कारण पूर्ण नहीं हो पातीं, काव्य रचना के द्वारा उनकी पूर्ति के आयोजन करता है। इस प्रकार कलावादी कवि का काव्य 'स्वान्तः सुखाय' होता है। वस्तुतः आत्मसुख की प्रवृत्ति प्रायः प्रत्येक रचना के मूल में विद्यमान रहती है। प्रत्येक कवि अपनी रचना से यश-अर्थादि के रूप में आत्मसुख की प्राप्ति के साथ-साथ गर्व, हर्ष एवं आनन्द की अनुभूति के रूप में भी सुख-लाभ करता रहता है—

निज कवित्त केहि लाग न नीका,
सरस होउ अथवा अति फीका।[1]

इसमें सन्देह नहीं कि काव्य 'स्वान्तः सुखाय' होता है। किन्तु स्वान्तः सुखाय' का अर्थ-संबंध कवि की विलक्षण अनुभूति तक सीमित न रखकर सामान्भ मानव हृदय से जोड़ना चाहिए। 'स्वान्तः सुखाय' में 'लोक सुखाय' भी बिन्दु में सिन्धुवत् निहित रहता है। 'स्वान्तः सुखाय' को लोक हृदय से विच्छिन्न तथा कवि के स्वप्नों, वासनाओं या कुंठाओं की अभिव्यक्ति का पर्याय मानकर काव्य को उसके पद से च्युत नहीं किया जा सकता। महाकवि तुलसीदास का स्वान्तः सुखाय' पूर्णतः 'बहुजन सुखाय' बन गया है।

कलावाद एक आनन्दवादी काव्य–दर्शन है, जो काव्य जन्य आनन्द, आह्लाद अथवा प्रफुल्लता को ही काव्य मूल्य स्वीकार करता है। यह काव्यानन्द क्षणिक, अस्थायी एवं निरुद्देश्य होता है, जिसकी जीवन या समाज के लिए कोई उपयोगिता नहीं है।

1. रामचरितमानस (मझला साइज)— तुलसीदास, बालकाण्ड, पृ० ४०

जीवन में आनन्द का महत्त्व असंदिग्ध है। जीवन–संघर्ष के थपेड़ों से क्लान्त–श्रान्त मानव को यदि काव्य आनन्द–जल के शीतल स्पर्श से स्फूर्ति प्रदान करता है तो इसके लिए वह प्रशंसनीय है। किन्तु कलावादी आनन्द एकांगी तथा जीवन-निरपेक्ष होने के कारण काव्य का अवमूल्यन कर सकता है। यह क्षणिक एवं स्वप्नवत् आनन्द काव्य को स्थायी मूल्य प्रदान करने में सक्षम सिद्ध नहीं हो सकता। भारतीय रसवादी आचार्यों (भट्टनायक, भरत-मुनि, विश्वनाथ इत्यादि) ने काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहकर शिव और सुन्दर का सामञ्जस्य किया है। अत: कलावादी आनंद रसवादी आनंद की तुलना में सतही, हलका एवं अपूर्ण ठहरता है। जीवन–रस से असंपृक्त चटकीले, रंजनकारी इन्द्रधनुषी चित्रण कुछ काल के लिए अपनी मोहिनी के वशीभूत कर भरमा तो सकते हैं किन्तु सच्चे अर्थों में आनन्द की संजीवनी से सराबोर कर जीवन के किसी महान उद्देश्य पर कला का रंग नहीं छिड़क सकते। इस सन्दर्भ में डॉ० रामविलास शर्मा का निम्नलिखित कथन स्मरणीय है—"कला के ऊपर सामाजिक प्रभावों को नियामक न मानने से अन्त में कला भी अराजक बन जाएगी। और उसमें न तो समाज–हित होगा और न आनन्द–लाभ ही होगा। यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि समाज–विरोधी विषयवस्तु के वर्णन या चित्रण से समाज के बहुसंख्यक लोग आनंद–लाभ नहीं कर सकते।"[1]

कलावादी अतिरंजित कल्पना काव्य में पलायनवादिता, रहस्यवादिता, निराशावादिता तथा अतिवैयक्तिकता आदि रूपों में प्रकट होती है। ये काल्पनिक भावानुभूतियाँ यथार्थ जीवन के ताप से रहित होती हैं; अत: इनकी अभिव्यक्ति करने वाला काव्य भी ऐकान्तिक, एकांगी और प्रतिगामी होता है। यह काव्य अस्थायी मनोरंजन का आधार तो बन सकता है, किन्तु जीवन के लिए किसी भी स्थिति में उपयोगी सिद्ध नहीं होगा; प्रत्युत उसे निष्क्रिय, रुग्ण एवं पतनोन्मुख बनाएगा। अत: काव्य में कलावादी कल्पना–विलास की प्रस्तुति स्पृहणीय नहीं मानी जा सकती। हम यहाँ आचार्य शुक्ल के इस कथन से पूर्णत: सहमत हैं—"काव्य की प्रकृत पद्धति तो यह है कि वस्तु योजना चाहे लोकोत्तर हो पर भावानुभूति का स्वरूप भी यदि कल्पित होगा तो हृदय से उसका संबंध क्या रहेगा ? भावानुभूति यदि ऐसी होगी जैसी नहीं हुआ करती तो सचाई (सिंसियरिटी) कहाँ रहेगी ? यदि कोई मृत्यु को केवल

1. लोकजीवन और साहित्य—डा० रामविलास शर्मा, पृ० ३१

जीवन की पूर्णता कहकर उसका प्रबल अभिलाष व्यंजित करे, अपके मरमिटने के अधिकार पर गर्व की व्यंजना करे तो कथन के वैचित्र्य से हमारा मनोरंजन तो अवश्य होगा पर ऐसे अभिलाष या गर्व की कहीं सत्ता मानने की आवश्यकता न होगी ।[1] कलावादी कवि की कल्पना जब विवेक से विच्छिन्न न होकर अभिनव सौन्दर्य की मनोरम रूप-सृष्टियों का बानक धारण करती है, तब वह निःसन्देह अभिनंदनीय है ।

वस्तुतः काव्य में रचना-नैपुण्य का अत्यधिक महत्व है । जब तक कवि अपनी प्रातिभ प्रगल्भता के द्वारा अनुभूति को रमणीय रूप प्रदान नहीं करता है, तब तक वह काव्य की संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकती है ।[2] कलावाद विषय की प्रत्यक्ष एवं सामान्य प्रस्तुति स्थान पर वक्रतापूर्ण — कलात्मक अभिव्यक्ति को प्रश्रय देता है । अतः कलावाद की शिल्प विषयक धारणा काव्योचित मानी जा सकती है । किन्तु इस धारणा का एक दुर्बल पक्ष भी है । शैल्पिक सज्जा के प्रति कलावाद का आग्रहपूर्ण समर्थन उसकी कला-प्रियता पर प्रश्न चिन्ह लगा देता है । यह कलाप्रियता मिथ्या एवं कृत्रिम शिल्प-विधान का कारण बनकर को निष्प्राण एवं प्रभाव हीन बना देती है । इसके अतिरिक्त काव्य की वाह्य साज-सज्जा पर ही ध्यान केन्द्रित करने से उसके आन्तरिक पक्ष के उपेक्षित हो जाने की आशंका रहती है । विषय एवं भाव काव्य की आत्मा हैं और वाह्य अलंकरण उसके शरीर मात्र हैं । काव्य की आत्मा का सौन्दर्य आभूषण—भार से दबकर विलुप्त अथवा निस्तेज 'नहीं होना चाहिए ।' स्थूल-काप एवं आभूषणों से जगर-मगर निष्णाप्त रूपाकृति की भला क्या उपयोगिता एवं सार्थकता है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कलावादी काव्य मूल्य की परिसीमा की अपनी विशिष्टताएँ, एवं दुर्बलताएँ दोनों ही हैं । वैयक्तिक अनुभूति, कल्पना-सौन्दर्य, रोमाण्टिक अभिरुचि तथा कलापूर्ण — अभिजात शिल्प-विधान आदि ऐसी कलावादी मान्यताएँ हैं, जो काव्य के मानक-अंगों के रूप में सहर्ष स्वीकार की जा सकती हैं । किन्तु ये मान्यताएँ अपने अतिवादी रूप में जीवन और कलाकाव्य के बीच विभेदक रेखा खींचकर उसके ह्रास का कारण बनती हैं । जैसे जीवन और समाज की स्थूल—नीरस प्रस्तुति काव्य मूल्य नहीं बन सकती, वैसे ही व्यावहारिक लक्ष्यों की ओर से उदासीन रहकर एकान्त भाव

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० ६३७
2. गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं, वार्तामेनां प्रचक्षते ।।—भामह, काव्यालंकार (२/८७)

से अन्तर्दर्शन की साधना और बंकिम अभिव्यंजना भी स्पृहणीय नहीं हो सकती। काव्य में जीवन की कलापूर्ण स्वीकृति ही उसके स्थायी मूल्य को रेखांकित कर सकती है। काव्य में उपयोगिता (भाव) की भागीरथी और कला की कालिन्दी का संगम ही सत्य-शिव सुन्दर की पुण्य-छटा विकीर्ण कर जीवन-जगत को शिक्षण (To teach) रंजन (To delight) तथा उत्प्रेरण (To move) इन तीनों लक्ष्यों की सिद्धि प्रदान कर सकता है।

(च) निष्कर्ष

अन्त में हम कह सकते हैं कि कलावाद कला, साहित्य और जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण है, जो 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त का पर्याय है। प्रकृतवाद, अतियथार्थवाद, व्यक्तिवाद, सौन्दर्यवाद स्वच्छन्दतावाद, अभिव्यंजनावाद, मनोविश्लेषणवाद' इत्यादि पाश्चात्य विचारधाराएँ कलावाद की अत्यन्त समीपी हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के रीति, अलंकार और वक्रोक्ति संप्रदाय भी कलावादी उद्देश्यों की पहल करते हैं। किन्तु भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृति तथा चिन्तन की अपनी-अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं, जो कलावाद के स्वरूप को भी प्रभावित करती हैं। अतः कलावाद को भारतीय कलावाद तथा पाश्चात्य कलावाद की भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से जाना जा सकता है। भारतीय कलावाद पाश्चात्य कलावाद की अपेक्षा अधिक मर्यादित संयमित, श्लील एवं उदार होता है। अतः भारतीय कलावाद को काव्य के प्रतिमान के रूप में अधिक ग्रहणीय माना जा सकता है।

●●

२. हिन्दी-काव्य में कलावादी चेतना : प्रवर्तन और परंपरा

साहित्य-सृष्टि के आरंभ से लेकर अवतक कलावादी काव्य-दर्शन की सत्ता किसी न किसी रूप में बराबर विद्यमान रही है । संस्कृत के आदि कवि वाल्मीकि से लेकर कालिदास भवभूति जयदेव, भर्तृहरि तथा अमरुक आदि कवियों तक के काव्यों में प्रेम-सौन्दर्य तथा प्रकृति के स्वच्छन्द चित्रणों और अलंकृत ललित गीत शैली के माध्यम से इस प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई है । प्राकृत-अपभ्रंश के प्रेम-काव्यों में भी इस काव्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन मिलता है । हाल की गाथासप्तशती तथा राजशेखर की कर्पूरमंजरी में प्रस्तुत रोमाण्टिक प्रेम-भावना, कल्पना की रमणीयता तथा उपमा आदि अलंकारों की छटा को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है । हिन्दी साहित्य में भी कलावादी चेतना आदिकाल से लेकर वर्तमान काल तक न्यूनाधिक परिमाण में सतत् विद्यमान रही है —

(क) आदिकाल

सं० १०५० से सं० १३७५ तक का काल हिन्दी साहित्य में आदिकाल अथवा वीरगाथा काल के नाम से प्रसिद्ध है । इसकाल की धार्मिक स्थिति बड़ी ही अव्यवस्थित थी, और समाज में वर्षाश्रम व्यवस्था का प्रचार-प्रसार बड़े जोरों पर था । अनेक कुप्रथाओं बाह्याडंबरों तथा अंध विश्वासों ने जन-जीवन को बुरीतरह जकड़ रखा था । इस काल की राजनीतिक स्थिति भी अस्तव्यस्त तथा अस्थिर हो गयी थी । एक ओर देशी राजे-महाराजे स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना के लिए आपस में लड़ रहे थे तो दूसरी ओर देश के उत्तर-पश्चिमी भागों से मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे । "सारांश यह है कि जिस समय से हमारे हिन्दी साहित्य का अभ्युदय होता है, वह लड़ाई-भिड़ाई का समय था, वीरता के गौरव का समय था, और सब बातें पीछे पड़ गई

थी ।"[1] इसकाल के कवियों ने भी सामाजिक समस्याओं तथा जन-आक्रोश के स्थान पर राजस्तुति को अपने काव्यों का मुख्य विषय बनाया। इसके पीछे राजसम्मान तथा धन आदि का प्रलोभन था। इस प्रकार यह काल मुख्यत: सामन्ती प्रवृत्तियों का पोषक बन गया है। "सामन्त शब्द से इस युग की राजनीतिक स्थिति का पता चलता है और अधिकाँश चारन जाति के कवियों की राजस्तुति-परक रचनाओं के प्रेरणा-स्रोतों का भी पता चलता है। 'सामन्त' जिस काव्य का प्रधान आश्रय दाता है, उसमें उसकी झूठी-सच्ची विजय गाथाओं और कल्पित-अकल्पित प्रेम-प्रसंगों का होना उचित ही है। एक के द्वारा वह वीर रस का आश्रय बनता है, दूसरे के द्वारा वह श्रृंगार रस का आलम्बन। सामन्त को दोनो ही चाहिए।"[2]

वीरगाथाओं की प्रस्तुति को इसकाल के काव्य की प्रधान प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यह प्रस्तुति प्राय: अयथार्थ, काल्पनिक और अतिशयोक्ति पूर्ण है, जिसका प्रमुख उद्देश्य आश्रय दाता राजाओं का मनोरंजन करना है। अतः वीर गाथाओं का यह स्वरूप कलावादी अभिरुचि की ओर संकेत करता है।

इस काल के काव्य में प्रेम के काल्पनिक तथा अकाल्पनिक दोनों ही रूप प्राप्त होते हैं। इस काल की प्रेम-भावना प्रकृत्या रोमाण्टिक है। 'ढोला मारू रा दूहा' तथा सन्देश-रासक' में स्वच्छन्द प्रेम की अभिव्यंजना हुई है। "विद्यापति के पद अधिकतर श्रृंगार के ही हैं जिनमें नायिका और नायक राधाकृष्ण हैं।" इन पदों की रचना जयदेव के गीतकाव्य के अनुकरण पर ही शायद की गई हो। इनका माधुर्य अद्भुत है।"[3] इस प्रकार सामंती प्रवृति को पोषक तथा भोग प्रधान इस प्रेम का स्वरूप कलावादी है। मैथिल कोकिल विद्यापति की अलंकृत गीत-संगीतमयी एवं कोमल कान्त पदावली की कलावाद की शैल्पिक विशेषताओं की संवाहिका है।

(ख) भक्तिकाल

सं० १३७५ से सं० १७०० तक के समय को भक्तिकाल के नाम से अभिहित किया जाता है। देश में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो जाने से हिन्दूजाति हतोत्साहित एवं हीनता से ग्रसित थी। उसके मन्दिरों और देवताओं

1. हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३४
2. हिंदी साहित्य का आदिकाल : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २४
3. हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ५६

की मूर्तियों को उसी के आँखों के सामने तोड़ा जा रहा था। बाहरी आक्रमणों के कारण सामाजिक व्यवस्था विकृत हो चुकी थी। बादशाहों और सामन्तों का जीवन भोगविलास के रंग में रँगा हुआ था। "प्रजा की गाढ़ी कमाई का धन हजारों की संख्या में रहने वाली रानियों की सन्तानों और राजदरबार में रहनेवाले कलाकार, कवि, संगीतज्ञ, चित्रकार, मूर्तिकार आदि पर व्यय किया जाता था। साथ ही भव्य भवन, क्रीड़ा उपवन, सिंहासन, राजमहलों की सजावट आदि पर भी धन-व्यय किया जाता था। जिसके फल-स्वरूप साधारण सैनिक भी जीवन में विलास और वैभव की आकांक्षा रखता था।"[1] इसकाल में विविध मत-मतान्तरों का प्रचलन था और "सच्चे धर्म भाव का बहुत कुछ ह्रास हो गया है।"[2] ऐसी परिस्थितियों में समाज व्यवस्था चरमरा गई थी। सत्ता का विरोध करने की शक्ति जनता में नहीं रह गयी थी। कालदर्शी कवियों ने जनता के मनोबल को उठाने और भव-पीड़ा को भुलाए रखने ने उद्देश्य से उसे धर्म एवं भक्ति का सम्बल प्रदान किया। डॉ० शिवदानसिंह चौहान के शब्दों में, "उन दिनों लोक-मानस में मनुष्य की मुक्ति का वर्ग-संघर्ष धार्मिक स्वर पर जनता की लोक परम्परा या उच्चवर्गों की शास्त्रीय परम्परा से प्राप्त विभिन्न मत-मतान्तरों के बीच धार्मिक दार्शनिक शब्दावली और रूपकों का आश्रय लेकर ही अभिव्यक्ति पाता था। उस समय धर्म ही युग चेतना का रूप और माध्यम था।"[3] स्पष्ट है कि भक्तिकाव्य लोकोन्मुख चेतना का काव्य है, किन्तु यह चेतना आवृत एवं अस्पष्ट रूप में प्रस्तुत हुई हैं। भक्तिकाव्य के निम्नांकित विन्दु कलावादी काव्य-सिद्धान्त के समर्थक माने जा सकते हैं—

(१) ज्ञानतत्व—ज्ञानाश्रयी शाखा के कबीर आदि कवियों की उपासना-पद्धति का प्रमुख आधार भारतीय ब्रह्म ज्ञान और योगसाधन से निर्मित ज्ञान तत्व है। यह ज्ञान समाज को शुभ एवं मंगलकारी व्याहारिक कार्यो से हटाकर उसे रहस्यमय गुह्यलोकों और अलौकिक सिद्धियों की भूल-भुलय्यों में उलझाए रखने वाला है। अतः लोकोपकारिणी व्यवहारिकता से रहित यह ज्ञानतत्त्व कलावादी दर्शन का अंगरूप माना जा सकता है।

(२) प्रेमतत्व—जायसी, मंझन, कुतुबन आदि प्रेमाश्रयी शाखा के

1. मध्य युग का सक्षिप्त इतिहास : डा० ईश्वरी प्रसाद, पृ६ २३६
2. हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ६४
3. साहित्यानुशीलन : डा० शिवदानसिंह चौहान, पृ० ५६

कवियों ने निर्गुण-निराकार, ब्रह्म के साथ रागात्मक प्रेम-संबंध स्थापित किया है। यद्यपि यह रागात्मक प्रेम संयोग और वियोग दोनों ही रूपों मे मिलता है, तथापि महत्ता वियोग प्रेम की ही मानी गई है। 'प्रेम की पीर' भक्त-हृदय की संजीवनी है, जिसकी तन्मयता में ये कवि लौकिक दृश्यों एवं प्रेम-संबंधों की अलौकिक अभिव्यक्तियाँ करते हैं। इस सन्दर्भ में, जायसी कृत 'पद्मावत' की प्रेम-पद्धति को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इन भक्तकवियों की प्रेमानुभूति के अलौकिक एवं काल्पनिक होने के कारण वास्तविक जीवन-जगत में इसकी उपयोगिता एवं सार्थकता आद्यंत संदिग्ध है। अतः इस प्रेम-पद्धति को कलावादी कोटि में रखा जा सकता है।

(३) प्रेमलक्षणाभक्ति—कृष्ण भक्त कवियों की भक्ति प्रेमलक्षणा भक्ति है। भक्ति का यह स्वरूप वासनाओं को उद्दीप्त करने वाला है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में, "इन कृष्ण भक्त कवियों के संबंध में यह कह देना आवश्यक है कि ये अपने रंग में मस्त रहने वाले जीव थे, तुलसीदास जी के समान लोक-संग्रह का भाव इनमें न था। समाज किधर जा रहा है, इस बात की परवा ये नहीं रखते थे, यहाँ तक कि अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिए जिस श्रृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से इन्होंने जनता को रसोन्मत्त किया, उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखने वाले विषयवासनापूर्ण जीवों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा इसकी ओर इन्होंने ध्यान न दिया।"[1] कृष्ण भक्तकवियों की प्रेमलक्षणा भक्ति लोकमंगल के संस्पर्श से रहित होने के कारण मात्र लोकरंजन का साधन बन सकी। अतः यह भक्ति कलावादी चेतना से अनुप्राणित मानी जा सकती है।

(४) दार्शनिकता—भक्त कवियों की दार्शनिक विचारधाराओं में कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो उसके कलावादी वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हैं। ज्ञानमार्गी कवियों (कबीर आदि) के काव्य में वेदान्त के मायावाद का निरूपण हुआ है। इन कवियों ने व्यक्त प्रकृति से परे अव्यक्त परम तत्त्व को सत्य-सुन्दर माना है। यह मायावादी जीवन दर्शन व्यक्ति को भौतिक जगत से उदासीन रखते हुए आध्यात्मिक जगत (काल्पनिक जगत) में लेजाकर निष्क्रिय बना देने वाला है।

प्रेममार्गी कवियों (जायसी आदि) के काव्य में वेदान्त और सूफीमत की विचार धाराओं के समन्वित प्रभाव के रूप में प्रतिबिम्बवाद की आवृत्ति हुई

1. हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० १५६

की मूर्तियों को उसी के आँखों के सामने तोड़ा जा रहा था। बाहरी आक्रमणों के कारण सामाजिक व्यवस्था विकृत हो चुकी थी। बादशाहों और सामन्तों का जीवन भोगविलास के रंग में रँगा हुआ था। "प्रजा की गाढ़ी कमाई का धन हजारों की संख्या में रहने वाली रानियों की सन्तानों और राजदरबार में रहनेवाले कलाकार, कवि, संगीतज्ञ, चित्रकार, मूर्तिकार आदि पर व्यय किया जाता था। साथ ही भव्य भवन, क्रीड़ा उपवन, सिंहासन, राजमहलों की सजावट आदि पर भी धन-व्यय किया जाता था। जिसके फल-स्वरूप साधारण सैनिक भी जीवन में विलास और वैभव की आकांक्षा रखता था।"[1] इसकाल में विविध मत-मतान्तरों का प्रचलन था और "सच्चे धर्म भाव का वहुत कुछ ह्रास हो गया है।"[2] ऐसी परिस्थितियों में समाज व्यवस्था चरमरा गई थी। सत्ता का विरोध करने की शक्ति जनता में नहीं रह गयी थी। कालदर्शी कवियों ने जनता के मनोबल को उठाने और भव-पीड़ा को भुलाए रखने ने उद्देश्य से उसे धर्म एवं भक्ति का सम्बल प्रदान किया। डॉ० शिवदानसिंह चौहान के शब्दों में, "उन दिनों लोक-मानस में मनुष्य की मुक्ति का वर्ग-संघर्ष धार्मिक स्वर पर जनता की लोक परम्परा या उच्चवर्गों की शास्त्रीय परम्परा से प्राप्त विभिन्न मत-मतान्तरों के बीच धार्मिक दार्शनिक शब्दावली और रूपकों का आश्रय लेकर ही अभिव्यक्ति पाता था। उस समय धर्म ही युग चेतना का रूप और माध्यम था।"[3] स्पष्ट है कि भक्तिकाव्य लोकोन्मुख चेतना का काव्य है, किन्तु यह चेतना आवृत एवं अस्पष्ट रूप में प्रस्तुत हुई हैं। भक्तिकाव्य के निम्नांकित विन्दु कलावादी काव्य-सिद्धान्त के समर्थक माने जा सकते हैं—

(१) ज्ञानतत्व—ज्ञानाश्रयी शाखा के कबीर आदि कवियों की उपासना-पद्धति का प्रमुख आधार भारतीय ब्रह्म ज्ञान और योगसाधन से निर्मित ज्ञान तत्व है। यह ज्ञान समाज को शुभ एवं मंगलकारी व्याहारिक कार्यो से हटाकर उसे रहस्यमय गुह्यलोकों और अलौकिक सिद्धियों की भूल-भुलय्यों में उलझाए रखने वाला है। अतः लोकोपकारिणी व्यवहारिकता से रहित यह ज्ञानतत्त्व कलावादी दर्शन का अंगरूप माना जा सकता है।

(२) प्रेमतत्व—जायसी, मंझन, कुतुबन आदि प्रेमाश्रयी शाखा के

1. मध्य युग का संक्षिप्त इतिहास : डा० ईश्वरी प्रसाद, पृ६ २३६
2. हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ६४
3. साहित्यानुशील.न : डा० शिवदानसिंह चौहान, पृ० ५६

कवियों ने निर्गुण-निराकार, ब्रह्म के साथ रागात्मक प्रेम-संबंध स्थापित किया है। यद्यपि यह रागात्मक प्रेम संयोग और वियोग दोनों ही रूपों में मिलता है, तथापि महत्ता वियोग प्रेम की ही मानी गई है। 'प्रेम की पीर' भक्त-हृदय की संजीवनी है, जिसकी तन्मयता में ये कवि लौकिक दृश्यों एवं प्रेम-संबंधों की अलौकिक अभिव्यक्तियाँ करते हैं। इस सन्दर्भ में, जायसी कृत 'पद्मावत' की प्रेम-पद्धति को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इन भक्तकवियों की प्रेमानुभूति के अलौकिक एव काल्पनिक होने के कारण वास्तविक जीवन-जगत में इसकी उपयोगिता एवं सार्थकता आद्यंत संदिग्ध है। अतः इस प्रेम-पद्धति को कलावादी कोटि में रखा जा सकता है।

(३) प्रेमलक्षणाभक्ति—कृष्ण भक्त कवियों की भक्ति प्रेमलक्षणा भक्ति है। भक्ति का यह स्वरूप वासनाओं को उद्दीप्त करने वाला है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में, "इन कृष्ण भक्त कवियों के संबंध में यह कह देना आवश्यक है कि ये अपने रंग में मस्त रहने वाले जीव थे, तुलसीदास जी के समान लोक-संग्रह का भाव इनमें न था। समाज किधर जा रहा है, इस बात की परवा ये नहीं रखते थे, यहाँ तक कि अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिए जिस श्रृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से इन्होंने जनता को रसोन्मत्त किया, उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखने वाले विषयवासनापूर्ण जीवों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा इसकी ओर इन्होंने ध्यान न दिया।"[1] कृष्ण भक्तकवियों की प्रेमलक्षणा भक्ति लोकमंगल के संस्पर्श से रहित होने के कारण मात्र लोकरंजन का साधन बन सकी। अतः यह भक्ति कलावादी चेतना से अनुप्राणित मानी जा सकती है।

(४) दार्शनिकता—भक्त कवियों की दार्शनिक विचारधाराओं में कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो उसके कलावादी वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हैं। ज्ञानमार्गी कवियों (कबीर आदि) के काव्य में वेदान्त के मायावाद का निरूपण हुआ है। इन कवियों ने व्यक्त प्रकृति से परे अव्यक्त परम तत्त्व को सत्य-सुन्दर माना है। यह मायावादी जीवन दर्शन व्यक्ति को भौतिक जगत से उदासीन रखते हुए आध्यात्मिक जगत (काल्पनिक जगत) में लेजाकर निष्क्रिय बना देने वाला है।

प्रेममार्गी कवियों (जायसी आदि) के काव्य में वेदान्त और सूफीमत की विचार धाराओं के समन्वित प्रभाव के रूप में प्रतिबिम्बवाद की आवृत्ति हुई

1. हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० १५६

है। प्रतिबिम्बवादी दर्शन दृश्यजगत को प्रेमरूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानकर सुन्दर एवं सत्य ठहराता है। जायसी ने सूफीमत के अनुरूप व्यक्त प्रकृति को परम प्रियतम से वियुक्त मानकर उसे महामिलन के लिए व्याकुल, व्यग्र एवं अशांत रूप में चित्रित किया है। यद्यपि जायसी ने मायावादी ज्ञानी भक्तिकवियों की भाँति जगत को मिथ्या बताकर उससे पलायन करने का विधि-विधान नहीं किया है, तथापि यह दर्शन (प्रतिबिम्बवाद) प्रेम-सौन्दर्य एवं वेदना-तत्त्वों से समन्वित होकर एक रमणीय भावात्मक रहस्य की सृष्टि करता है। अतः इसकी व्यावहारिक उपयोगिता धूमिल पड़ जाती है और यह भी कलावाद के समकक्ष पहुँच जाता है।

कृष्ण भक्त-कवियों (सूरदास आदि) ने जगत को मिथ्या एवं असुन्दर न मानकर इसकी गोलोक के रूप में परिकल्पना की है; जहाँ श्रीकृष्ण (परमतत्त्व) नित्य आनन्द-विहार करते हैं। इन कवियों ने श्रीकृष्ण के परम प्रेम-रस की प्राप्ति भगवान के अनुग्रह से ही संभव मानी है। इस प्रकार यह पुष्टिमार्गी विचार धारा लक्ष्य (परम प्रेम-रस की प्राप्ति, जो समाज-विच्छिन्न है।) और साधन (ईश्वर-कृपा का अवलम्बन, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास को अवरुद्ध कर उसे, जड़ एवं निष्क्रिय बनाने वाली मनोवृत्ति है।) इन दोनों ही दृष्टियों से लोक-मंगल की साधना में सहायक नहीं हो पाती है। अतः पुष्टिमार्गी कवियों की यह दृष्टि मानसिक विलासिता एवं मनोरंजकता आदि विशेषताओं के कारण कलावादी लक्ष्यों की संपूर्ति करती है।

रामभक्ति शाखा के कवि तुलसीदास के काव्य में मुख्यतः विशिष्टाद्वैतवाद का प्रतिपादन हुआ है। "विशिष्टाद्वैत वाद के अनुसार चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ही अंश जगत के सारे प्राणी हैं, जो उसी से उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन होते हैं। अतः इन जीवों के लिए उद्धार का मार्ग यही है कि वे भक्ति द्वारा उस अंशी का सामीप्य लाभ करने का यत्न करें।"[1] भक्त की मुक्ति (सामीप्य लाभ) ईश्वर कृपा से ही संभव है। इस विचारधारा के अनुसार ईश्वर जीव का नियामक है—

उमा दारु जोषित की नाईं।
सबहिं नचावत राम गुसाईं।[2]

यह दर्शन व्यक्ति के यथार्थ जीवन-जगत की कठोरताओं से जूझते हुए

1. हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ११४
2. रामचरित मानस : तुलसीदास

व्यक्तित्व के विकास करने की संभावनाओं को धूमिल बनाकर उसे मलायनवादी एवं निष्क्रिय बनाता है। अतः वास्तविक जीवन में इसकी उपयोगिता संदिग्ध बनी रहने के कारण यह दर्शन कलावाद की श्रेणी में रखा जाएगा।

(५) शिल्पविधान—भक्त कवियों (मुख्यतः जायसी, सूरदास, तुलसी दास आदि) के शिल्पविधान की प्रतीकात्मकता, बिम्बात्मकता आलंकारिकता, गीतात्मकता इत्यादि विशेषताओं मे कलावाद के सूचक उपकरणों को देखा जा सकता है।

(ग) रीतिकाल

सं० १७०० वि० से १९०० तक का समय हिन्दी साहित्य में रीतिकाल के नाम से जाना जाता है। इस काल के राजनीतिक-सामाजिक परिवेश ने काव्य रचना को पर्याप्त रूप में प्रभावित किया है। इस काल की राजनैतिक व्यवस्था का मुख्य आधार निरंकुश राजतन्त्र था, जिसमें वैयक्तिक निरंकुशता चरम सीमा पर पहुँच गयी थी। औरंगजेब के शासनकाल में जनता की दयनीय स्थिति हो गयी थी। उसकी मृत्यु के उपरान्त राजनीति स्थिति और भी अस्थिर तथा भयावह हो उठी। मुगल साम्राटों की विश्रृंखलित केन्द्रीय-सत्ता में छोटे-छोटे राज-नवाबों के राजदरबार भोग-विलास के क्रीडागार वनकर रह गए थे। उच्चवर्ग विलासिता के मद में निमग्न था और सामान्य जनता शोषण, दमन एवं अत्याचारों के व्यूह में फँसी संत्रस्त हो रही थी। "सचमुच इस समय के प्रासाद इन्हीं लोगों की हड्डियों पर खड़े थे, इन्हीं के आँसू और रक्त की बूंदें जमकर अमीरों के मोती और लालों का रूप धारण कर लेती थीं। राजा के अबाध अपव्यय की क्षतिपूर्ति अनेक प्रकार के उचित-अनुचित कर्मो द्वारा की जाती थी।"[1] इस काल की जनता आर्थिक दृष्टि से कुण्ठित और किंकर्त्तव्यविमूढ़ जीवन-यापन कर रही थी। धार्मिक क्षेत्र में सुधारवादी आन्दोलनों के स्वर मन्द पड़ गए थे, जिसके परिणाम स्वरूप कृष्ण भक्त कवियों की अलौकिक प्रेम-धारा लौकिक प्रेम-शृंगार के रूप में प्रवाहित होने लगी थी। समाज की सर्वाधिक जागरूक रहने वाली कवि-प्रतिभा भी परिस्थितियों के वात्याचक्र में पड़कर अपने गन्तव्य से भटक गई थी। पद तथा धन के लोलुप कवियों ने आश्रयदाता—राजाओं के मनोरंजन के लिए परम्परागत आश्रय—राधा-कृष्ण—के सुमिरण के बहाने अपने उद्दाम

1. रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेण्द्र, पृ० १४

कामना पूर्ण भौतिक प्रेम का वमन प्रारंभ कर दिया। प्रेम वासना का पर्याय बन गया और उसका निरूपण कामशास्त्रानुमोदित होने लगा। नायक-नायिकाओं की रस क्रीड़ा, वियोग-वेदना, मिलनोत्कण्ठा, मान, अभिसार आंगिक रूप-लावण्य, उद्दीपक प्रकृति-सौन्दर्य इत्यादि वर्णनों से हिन्दी कविता परिपूर्ण हो उठी। यहाँ हम आचार्य शुक्ल के इस कथन को उद्धृत करने का लोभ-संवरण नहीं कर सकते—"वास्तव में शृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगार काल कहे तो कह सकता है। शृंगार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि नहीं, आश्रयदाता राजा-महाराजों की रुचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।"[1] दरबारी रुचि के अनुगामी इस काव्य का शिल्पपक्ष भी रमणीय भाषा-सौष्ठव, अलंकार-प्रदर्शन तक्षा मुक्तक-गेय थैली आदि कलात्मक सज्जाओं से मण्डित है। इस तरह उद्दाम अमर्यादित एवं अधोमुखी प्रेम-भावना और उक्तिवैचित्र्य तथा चमत्कार-प्रदर्शन से पूर्ण रीतिकालीन काव्य को हम सहर्ष कलावादी काव्य-सिद्धान्त का अनुयायी घोषित कर सकते हैं।

(घ) आधुनिक काल

(१) भारतेन्दु-युग—१८५० ई० से १९०० ई० तक का काल भारतेन्दु युग के नाम से जाना जाता है। रीतिकाल का काव्य समाज-निरपेक्ष और कलात्मक साज-सज्जा का काव्य था। वह काव्य जनजीवन से दूर राजप्रसादों के मनोविनोद का साधन बन गया था। भारतेन्दु-युग में काव्य के स्वरूप में परिवर्तन आया और वह जनजीवन को चित्रित करने की दिशा में प्रवृत्त हुआ। यह परिवर्तन तत्कालीन नवचेतना का परिणाम कहा जा सकता है। यह नवचेतना समय की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों की देन थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्वार्थ पूर्ण अनुदार नीति, विक्टोरिया की घोषणा, आर्थिक शोषण, टैक्सों की भरमार एवं धार्मिक विवादों से समाज में अशान्ति, असुरक्षा, खिन्नता और अस्थिरता का वातावरण पैदा होगया था। इस वातावरण का साहित्य पर सीधा प्रभाव पड़ा। कवियों का ध्यान देश की दुर्दशा की ओर गया और काव्य की विषयवस्तु के लिए नए अध्याय खुले। डॉ० केसरी नारायण शुक्ल के शब्दों में—"भारतेन्दु-युग का नवीन

1. हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० २३३

आदर्श यथार्थवादी तो था ही, सर्वांगीण भी दिखाई पड़ा। इसने सम्पूर्ण जीवन को अपनाया था। यह देश की दुरवस्था से सम्पूर्णतया परिचित था। यह आदर्श राजाओं की चाटुकारिता को छोड़कर कवियों में आत्मसम्मान की भावना भरने लगा। इस नवीन आदर्श ने भारत की मूक तथा पीड़ित जनता की हृदयगत भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति की। परिस्थितियों से आँख न मूँद कर इस आदर्श ने कवि तथा देश वासियों के विचारों को भली भाँति प्रत्यक्ष किया।"[1] डॉ० रामविलास शर्मा ने भी भारतेन्दु युगीन काव्य को जनवादी प्रवृत्तियों का पोषक[2] काव्य कहा है। इस प्रकार इस युग के काव्य का मूल स्वर तो उपयोगितावादी है, किन्तु उसमें कलावादी तत्त्वों के दर्शन भी हो जाते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगी कवियों ने रीतिकालीन कवियों के समान कवित्त-सवैया-शैली में नखशिख-वर्णन, दानलीला तथा ऊहात्मक विरह की रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, जो निस्सन्देह कलावादी प्रवृत्तियों की परिचायक हैं। उदाहरणार्थ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का श्रृंगार-वर्णन संबंधी यह कवित्त द्रष्टव्य है —

सजि सेज रंग के महल में उमंग भरी,
पिय गर लागी काम-कसक मिटायें लेत।
ठानि विपरीत पूरी मैन मसूसन सों,
सुरत-समर जय-पत्रहिं लिखायें लेत।
'हरीचन्द' उझकि-उझकि रति गाढ़ी करि,
जोम-भरी पियहिं झकोरन हरायें लेत।
याद कर पी की सब निरदय घातें आजु,
प्रथम समागम कौ बदलौ चुकायें लेत॥

(२) द्विवेदी-युग—१९०१ से १९२० ई० तक के काल को द्विवेदी-युग की संज्ञा प्रदान की गई है। भारतेन्दु युगीन नवीन चेतना, नवीन विचार, नवीन भाव एवं नवीन काव्य-उपादानों को पल्लवित—पुष्पित कर पूर्ण विकसित करने का श्रेय द्विवेदी युग की कविता को है। वस्तुतः काव्य की यह नवीन धारा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में अपने क्षीण रूप में थी। द्विवेदी युग में यही धारा साहित्य के सिंहासन पर विराजमान हुई।"[3] इस युग की कविता का स्वरूप भी अपने पूर्ववर्ती युग की कविता के समान उपयोगितावादी

1. आधुनिक काव्यधारा : डा० केसरीनारायण शुक्ल, पृ० १८
2. भारतेन्दु-युग : डा० रामविलास शर्मा (तृतीय संस्करण की भूमिका के आधार पर)
3. बीसवीं शताब्दी : हिन्दी साहित्य नए संदर्भ : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ११

है, किन्तु रीतिकालीन परम्परा के परिपालन में तथा युग के अन्तिम वर्षों में रचित रोमाण्टिक रचनाओं में कलावादी तत्वों की अवतारणा भी हुई है। यह युग हमारे अध्ययन का मूल आधार है, अतः इसकी कलावादी भूमिका का विस्तृत विवेचन आगे यथास्थान प्रस्तुत किया जाएगा।

(३) छायावादी-युग—१९२१ ई० से १९३६ ई० तक की अवधि में रचित काव्य की विशेषताओं के आधार पर इस युग को छायावादी युग कहा गया है। छायावादी युग का प्रारंभ राजनीति के गाँधी-युग के साथ होता है। यह समय असहयोग तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलनों का रहा है। प्रथम विश्व युद्ध (१९१४-१८ ई०), रालेट एक्ट, जलियान वाला काण्ड आदि घटनाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप देश की राजनीति में निराशा का वातावरण छा गया गया था। दूसरी ओर महात्मागाँधी के नेतृत्व में देश स्वतन्त्रता-प्राप्ति की आशा से संघर्ष-पथ पर अग्रसर भी हो रहा था। इस प्रकार देशकी राजनीति आशा-निराशाओं से युगपद पूरित थी।

सांस्कृतिक दृष्टि से यह पुनर्जागरण का काल है। नारी जागरण, जाति-भावना में शैथिल्य, परम्परागत मान्यताओं का विरोध, बुद्धिवाद, मानवतावाद भौतिकवाद आदि इस सांस्कृतिक जागरण के प्रमुख अंग थे। भारतीय समाज बेकारी, भुखमरी और मँहगाई से बुरीतरह पीड़ित था। देश का औद्योगिक विकास अवरुद्ध हो गया था। कांग्रेस ने महात्मागाँधी के नेतृत्व में देश की आर्थिक दशा सुधारने के लिए अनेक कार्यक्रम प्रारंभ किए।

इस प्रकार आशा-निराशा से पूरित सामयिक परिवेश ने काव्य-रचना को पर्याप्त प्रभावित किया। इस व्यापक प्रभाव का एक पक्ष आसाधारण भावनाओं, अतिरंजित कल्पनाओं तथा वेदनाजन्य निराशाओं के रूप में प्रस्तुत हुआ। छायावाद की प्रमुख कलावादी प्रवृत्तियों को निम्नांकित शीर्षकों में रखा जा सकता है—

वैयक्तिकता—छायावाद में वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति मुख्यतः दो रूपों—वैयक्तिक चिन्तन तथा आत्माभिव्यक्ति—में हुई है। यह प्रवृत्ति अपने दोनों ही रूपों में समाजनिरपेक्ष रही है। अतः इसे कलावाद के अन्तर्गत रखा जाएगा।

कल्पनाशीलता—भावावेग की तीव्रता के कारण छायावादी कल्पना का स्वरूप स्वच्छन्द हो गया है। कवि प्रस्तुत की अपेक्षा अप्रस्तुत के कल्पना-लोक में अधिक प्रवृत्त हुए हैं। कल्पनाधिक्य के कारण छायावाद में वेदना,

पलायन, विवेक हीन भावुकता, मादक दिवास्वप्न इत्यादि कलावादी प्रवृत्तियों की भरमार हुई है।

निराशावादिता— यथार्थ जीवन की कठोरता तथा सामाजिक बंधनों से ऊबकर छायावादी कवि मानसिक स्वातन्त्र्य का काल्पनिक आवरण डालकर निराशा को ही मनोरम एवं साध्य मानने लगे हैं। छायावाद में निराशावादी जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति क्षणिकवाद, दुःखवाद, नियतिवाद तथा रोमांसवाद आदि रूपों में हुई हैं। क्षणवाद के अन्तर्गत जीवन-जगत की क्षणभंगुरता, दुःखवाद के अन्तर्गत जगत के दुःखात्मक स्वरूप, नियतिवाद के अन्तर्गत विश्व की नियामिका अदृश्यशक्ति (नियति) की व्यापक शक्तिमत्ता और रोमान्सवाद के अन्तर्गत वेदना एवं निराशा में आनन्दोल्लास की अनुभूति का वर्णन हुआ है। जीवन के निषेधात्मक पक्ष का व्याख्याता होने के कारण यह छायावादी काव्य-दर्शन कलावादी धारणा का ही संपोषण करता है।

रहस्यत्मकता—छायावाद में अनन्त एवं अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर प्रेम की मार्मिक व्यंजनाएँ की गई हैं। "छायावाद की रहस्योक्तियाँ एक प्रकार की जिज्ञासाएँ हैं, जो छायावाद के उत्तरार्ध में आध्यात्मिक दर्शन के द्वारा और भी पुष्ट होगई हैं। परन्तु वे धार्मिक भावना पर आश्रित नहीं हैं। उनका आधार कहीं भावना, कहीं दर्शन-चिन्तन और आरंभ में कहीं-कहीं मन की छलना भी है।"[1] अध्यात्म, दर्शन आदि इसप्रकार छायावादी रहस्य-भावना के जिज्ञासा, अध्यात्म, दर्शन इत्यादि बिन्दु मानव-मन की छलनाएँ हैं, जो उसे निष्क्रिय एवं अकर्मण्य बनाकर उसके विकास को अवरुद्ध कर सकती हैं। अतः इस रहस्यात्मकता को कलावाद के अंग के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

मनोरम अभिव्यंजना-कौशल—छायावादी काव्य-शिल्प कलापूर्ण बंकिम भाषा, रमणीय लाक्षणिक वैचित्र्य, नूतन अलंकार-प्रयोग, बिम्ब-प्रतीक विधान तथा प्रगीत-मुक्तक शैली आदि विशिष्टताओं से समृद्ध है। अतः यह वायवी, मनोरम एवं विशिष्ट काव्य-शिल्प कलावादी सिद्धान्त का अनुगामी माना जा सकता है। स्पष्ट है कि छायावाद विषय वस्तु एवं शिल्प-कला की दृष्टियों से कलावादी काव्य-सिद्धान्त का प्रबल समर्थक है। तुलना की दृष्टि से केवल रीतिकाल ही अपने कलावादी सौष्ठव के कारण इसके समकक्ष ठहरता है।

1. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां (छायावाद) : डा० नगेन्द्र

(४) प्रगतिवाद—१९३७ ई० से १९४२ ई० तक के काव्य को उसकी विशिष्टताओं के आधार पर प्रगतिवाद के अन्तर्गत रखा जा सकता है। पूँजीवादी शोषण, बेरोजगारी, दरिद्रता तथा द्वितीय विश्वयुद्ध की संभावनाओं से उत्पन्न समस्याओं को सुलझाने की सामाजिक चेतना इस काव्य धारा की मुख्य संप्रेरक रही है। "यह युग की माँग को पूरा करने वाला साहित्य है। इसकी शक्ति इस बात में है कि वह समाज के वास्तविक जीवन के निकट है। × × × लेखक के लिए मूल समस्या यह है कि हम अपने साहित्य की जातीय विशेषताओं की रक्षा करते हुए किस तरह उन्हें विकसित करें कि हमारी जनता की चेतना निखरे और वह आज के दुःखों और अभावों की दुनिया से निकल कर सुख और स्वाधीनता के प्रकाश में साँस ले सके।"[1] अतः प्रगतिवादी काव्य जीवन-समाज से पूर्णतः जुड़ा रहकर उनके उत्थान में सक्रिय भूमिका निभाने के कारण उपयोगितावादी काव्य सिद्धान्त का समर्थक है। किन्तु प्रगतिवादी काव्यधारा के समानान्तर तत्कालीन 'तुमुल कोलाहल-कलह' में 'हृदय की बात' अंकित करती हुई गीतधारा भी प्रवाहित होती रहती है। इस धारा के प्रमुख गीतकार हरिवंशराय 'बच्चन' रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' नरेन्द्र शर्मा, धर्मवीर भारती, वीरेन्द्रमिश्र, गोपालदास सक्सेना 'नीरज' रामावतार त्यागी, मुकुट बिहारी सरोज, शिवमंगल सिंह 'सुमन, नलिन विलोचन शर्मा, बलवीर सिंह 'रंग' इत्यादि हैं। इन गीतों में वैयक्तिक प्रेम, वासनापरक सौन्दर्य, निराशावाद, वेदनावाद, नियतिवाद पलायनवाद तथा मृत्यु-वरण आदि की प्रस्तुति कलात्मक भाषा-शैली में हुई है। अतः इस गीतधारा को विषय एवं शिल्प की दृष्टि से कलावादी कोटि में रखा जा सकता है।

(५) प्रयोगवाद तथा नई कविता—१९४३ ई० से १९६० ई० तक का काल प्रयोगवाद तथा नई कविता का काल है। नवीन युग के नए-नए मूल्यों को नवीन शैली में प्रस्तुत करने की काव्यगत आवश्यकता की पूर्ति के लिए काव्य में नए-नए प्रयोगों की प्रवृत्ति का सन्निवेश हुआ। इस प्रवृत्ति को काव्य में प्रयोगवाद (१९४३-१९५१ ई०) के नाम से अभिहित किया गया। छायावाद के उपरान्त काव्य जिन दो धाराओं—समाजवादी तथा व्यक्तिवादी—में प्रवाहित हुआ, उनमें से प्रयोगवाद का संबंध व्यक्तिवादी धारा से है। नई कविता (१९५२-६० ई०) प्रयोगवाद का अगला विकसित रूप मानी जा

1. प्रगति और परम्परा : डा. रामविलास शर्मा, पृ० ४२

सकती है । इस ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि डॉ० मदान के निम्नांकित कथन से हो जाती है—"व्यक्ति सत्य को गहराने तथा सामाजिक सत्य को वैयक्तिक दृष्टि से आत्मसात करने के प्रयास को प्रयोगवाद की अपेक्षा नई कविता के नाम से अभिहित किया जा रहा है ।[1] प्रयोगवाद तथा नई कविता में कोई तात्विक अन्तर नहीं है । इन दोनों के काव्यधर्म तथा रचना शिल्प प्रायः समान हैं । इन काव्यधाराओं की निम्नांकित प्रवृत्तियाँ कलावादी सिद्धान्त की संपुष्टि करती हैं—

व्यक्तिवादिता—प्रयोगवाद तथा नई कविता की व्यक्तिवादिता समष्टि गत मूल्यों के अभाव में सतही एवं थोथी बन गई है । इस व्यक्तिवादिता के केन्द्र में कवियों का अहं रहा है, जिससे काव्य में कुण्ठा और हीन भावनाओं का आधिक्य हो गया है ।

अतियथार्थवादिता—नए काव्य में अतियथार्थवाद की अभिव्यक्ति नग्नयथार्थ, फ्रायड के मनोविश्लेपण वाद और प्रकृतवाद आदि रूपों में पायी जाती है । नए कवि मन के गुह्यलोकों में विचरण करते हैं । इन कवियों की प्रेमभावना भोगप्रधान एवं वर्जना-ग्रस्त है । आलोच्य कवियों का प्रकृति-दर्शन भी यौन-भावना से आक्रान्त है । ये कवि प्रकृति का प्रयोग यौन-प्रतीकों के रूप में भी करते दृष्टिगोचर होते हैं ।

नए काव्य की उपर्युक्त दोनों प्रवृत्तियाँ (व्यक्तिवादी एवं अतियथार्थवादी) समाज निरपेक्ष होने कारण कलावादी कही जा सकती हैं ।

शिल्पगत नवीनता—नए काव्य में विपयवस्तु के समान नवीन शिल्प-प्रयोग की प्रवृत्ति भी दृष्टि गोचर होती है । "प्रयोगवाद आधुनिक हिन्दी कविता में सर्वाधिक मौलिक और अपारंपरिक प्रवृत्ति के रूप में आया । इसमें कविता के धर्म और रचनाशिल्प की पूर्व प्रचलित मान्यताओं को झकझोर कर रख दिया ।[2] परंपरा-भंजन के जोश वैलक्षण्य के मोह और यथार्थ के प्रवाह में नए कवियों का शिल्प-विधान संप्रेपणीयता तथा सहजता के अभाव में चमत्कारक और चौंकाने वाले बन गया है । नए काव्य की अस्पष्टता, दुरुहता, अनुर्वरता तथा कृत्रिमता आदि शिल्पगत विशेषताएँ कलावादी अवधारणा को सूचित करती हैं । डॉ० मदान का निम्नलिखित कथन इस काव्य के शिल्प की कलावादिता की ओर संकेत करता है—

1. आधुनिक कविता का मूल्याकन : डा. इन्द्रनाथ मदान, पृ० ८४
2. समकालीन हिन्दी कविता : डा. रवीन्द्र भ्रमर, पृ० २०

"नई कविता में अभिव्यक्ति की दृष्टि से संवेदना का अभाव है। यथार्थवादी मान्यताओं के फलस्वरूप इसे जीवन के ठोस धरातल पर उतारा गया है × × × परन्तु नई कविता के इस प्रयास में काव्य की संवेदना अस्त-व्यस्त हो रही है और प्रायः वक्तव्य देना शेष रह गया है। इस प्रकार क्षेत्र सीमित हो गया है। कवि केवल अपने लिए और अपने छोटे से वर्ग के लिए कविता रचने लगा है।"[1]

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि नए काव्य (१९४३-१९५१ ई०) में प्रस्तुत कलावादी स्वरूप पाश्चात्य संस्कृति और चिन्तन से निर्मित है, जिसमें नग्नता, कुरूपता, वर्जना, रूक्षता आदि जीवन के निषेधात्मक कदरूपों का आधिक्य है। अतः इस काव्य को शुद्ध पाश्चात्य कलावादी चिन्तन का काव्य कहा जा सकता है। इससे पूववर्ती हिन्दी काव्य में कलावाद एकान्त आनन्द, क्षणिक मनोरंजन, शुद्ध भावुकता, स्थूल-अतीन्द्रिय सौन्दयानुभूति आदि भारतीय चिन्तन की विशिष्टताओं से युक्त संयत एवं शिष्ट रूप में अवतरित हुआ है। अतः यह पूर्ववर्ती कलावाद भारतीय कलावाद की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

(६) साठोत्तरी काव्य—हम सन् १९६१ ई० से वर्तमान काल तक के काव्य को सुविधा की दृष्टि से 'साठोत्तरी काव्य' शीर्षक के अन्तर्गत रखकर उसकी कलावादी विशेषताओं का अध्ययन करते हैं। इन वर्षों में देश का सामाजिक परिवेश क्रमशः कुरूप हुआ है। आज देश को अनेक राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। आर्थिक विषमता, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता, जातिवाद, अवसरवाद, स्वार्थपरता आदि अनेक प्रकार की संकीर्णताओं और अनैतिकताओं के व्यूह में समूचा राष्ट्र आबद्ध है। इन परिस्थितियों ने आधुनिक कवियों के मन-मानस को आन्दोलित किया है। सम-सामयिक परिवेश के अतिरिक्त पाश्चात्य काव्य और साहित्यिक मान्यताओं से भी साठोत्तरी काव्य प्रभावित हुआ है। अत्याधुनिक कविता 'नई कविता' और 'नवगीत' तक ही सीमित नहीं है। आज की कविता अनेक रूपों में दिखती-छिपती अपना मार्ग बना रही है। यह कविता बदलते हुए समय के साथ कदम से कदम मिलाकर चल रही है। नई कविता के बाद साहित्य में अकविता, प्रतिबद्ध कविता, सूर्योदयी कविता, अस्वीकृत कविता, सीमान्त-कविता, बीट कविता, भूखी पीढ़ी की कविता, प्रगतिशील कविता, प्रतिबद्ध

1. निबंध और निबंध : डा. इन्द्रनाथ मदान, पृ० ३०३

कविता एवं सहज कविता आदि अनेक कविता-आन्दोलन बने-मिटे हैं। इन काव्यान्दोलनों का कोई मौलिक दर्शन या स्थायी काव्य-मूल्य न होने के कारण ये अपनी अलग-अलग पहचान बना पाने या दीर्घ जीवी होने का सुख प्राप्त नहीं कर सके। वस्तुतः इन काव्यान्दोलनों के मूल में इनके प्रवर्तकों की महत्त्वाकांक्षा तथा आत्मसुख (छपास, नेतागीरी इत्यादि) की प्रवृत्ति ही प्रधान रही है। डॉ० केदारनाथसिंह ने साठोत्तरी कविता को दो रूपों में विभाजित किया है—"सन् साठ के बाद कविता का विकास दो दिशाओं में हुआ है—कविता से अकविता की ओर और शुद्धकविता से एक खास किस्म की प्रतिबद्ध कविता की ओर।"[1] इनके अतिरिक्त नवगीतों की रचना भी प्रयोगवाद और नई कविता के समय से लेकर आजतक बराबर हो रही है। यह नवगीत-धारा साठोत्तरी काव्य की एक महत्त्वपूर्ण धारा है, जो विविध कला-भंगिमाओं के कारण अपना पृथक अस्तित्व रखती है। इस प्रकार हम साठोत्तरी काव्य को तीन प्रमुख उपशीर्षकों में रेखांकित कर सकते हैं—

(१) अकविता।
(२) प्रगतिशील कविता।
(३) नवगीत (गीति रचनाएँ)

अकविता नए युग की वास्तविकताओं को अभिव्यक्ति देने का उद्देश्य लेकर चली थी। किन्तु उसने वास्तविकताओं को एकांगी रूप में ही ग्रहण किया है। 'अकविता' आधुनिकता, फैशन, सतही प्रदर्शन, बलात्कार एवं यौनाचार का पर्याय बन गई है। अकविता फैशन परस्ती कविता-सृजन के प्रति अगंभीरता, विकृत सौन्दर्यबोध, एकांगी आधुनिकता, चमत्कारवादिता एवं कृत्रिमता आदि काव्यगत विशेषताओं के कारण समाज एवं जीवन से दूर चली गई है। अतः सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करने में असमर्थ इस कलाधर्मी 'अकविता' को कलावादी कविता की संज्ञा प्रदान की जा सकती है।

प्रयोगवाद और नई कविता के काल से ही नवगीत धारा भी बराबर अपना पथ सँवारती चल रही है। इस नवीन धारा के गीत संगीतमय एवं अलंकृत छायावादी गीतों से अपने नवीन भाव बोध और नवीन रचना बोध के कारण भिन्न कोटि के हैं। नवगीतों में प्रणयानुभूति तथा प्रकृति-सौन्दर्य आदि के विशुद्ध चित्रणों में कलावादी काव्य-लक्षण देखे जा सकते हैं।

1. धर्मयुग : ४ जुलाई १९६५ (सन '६० के बाद की हिन्दी कविता, शीर्षक निबंध)

(ङ) निष्कर्ष

अन्त में हम कह सकते हैं कि हिन्दी कविता आदिकाल से अत्याधुनिक काल तक की विकास-यात्रा में बराबर कलावादी तत्त्वों का आधार ग्रहण करती आयी है। कलावाद का पूर्ण अभाव किसी भी युग की कविता में नहीं रहा, हाँ, इतना अवश्य है कि उसकी छाया कभी विरल तो कभी सघन हो उठी है। रीतिकाल तथा छायावाद काल को उनकी काव्यगत विशेषताओं के आधार पर कलावाद के उत्कर्ष कालों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इन काव्य-युगों के काव्य में प्रस्तुत कलावाद का स्वरूप भारतीय चिन्तन के अधिक समीप रहा है, अतः इसे भारतीय कलावाद भी कहा जा सकता है। प्रयोगवाद, नई कविता तथा अकविता के अन्तर्गत भी कलावादी प्रवृत्तियों की चरम अभिव्यक्ति दृष्टिगत होती है। इस नवीन एवं अत्याधुनिक काव्य का कलावादी चिन्तन योरप के कुत्सित कलावादी आन्दोलन से अत्यधिक प्रभावित है। अतः नए काव्य में प्रस्तुत कलावाद को पाश्चात्य कलावाद के रूप में लिया जाना चाहिए।

३. युगीन परिवेश और कलावाद

किसी भी कालखण्ड के परिवेश मे वे कारक तत्त्व विद्यमान रहते हैं, जिनकी प्रेरणा से तत्कालीन काव्य के स्वरूप का निर्माण संभव होता है। "वर्तमान के वातायन में अवस्थित महाकाल की वीणा सामयिकता से झंकृत होकर भूत-भविष्य की चेतना से संस्पर्श करती हुई भूलोक में विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ निःसृत किया करती है : जब भी कभी कोई संवेदना-शक्ति से संपन्न भावुक कवि अपने कल्पनालोक में विचरण करने के लिए उद्यत होता है, तो ये प्रभावशील ध्वनियाँ अनायास उसका ध्यान आकृष्ट कर उसकी चिन्तना को रिझाने का प्रयत्न करती है। भूत से वर्तमान की ओर आते हुए काल पुरुष के चरण युगल जब भविष्य की ओर उन्मुख होते हैं तो उसके द्वारा छोड़े गए पद चिह्न हल्के-गहरे विभिन्न रंगों में उभरने लगते हैं। कवि या कलाकार इन सबका सदुपयोग कर अपनी अनुभूति को अधिक संवेद्य और अपनी अभिव्यक्ति को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयत्न करता है। कवि-हृदय में स्थित सर्जनामूलक यही उत्साह काव्य-विभा का मूल है।"[1] अतः विवेच्यकालीन कलावादी काव्य रचना के उद्गम विकास और स्वरूप के मर्म का सम्यक् उद्घाटन करने के लिए उसके प्रेरक-परिवेश का ऐतिहासिक अनुशीलन परम आवश्यक है।

(क) सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश

"अँगरेजों के आधिपत्य-स्थापन के समय हिन्दू धर्म शिथिल हो चुका था। अशिक्षित भारतीय जनता अज्ञान अन्धविश्वास में संवेष्ठित थी। दुर्बल और प्राणशून्य हिन्दू जाति की धार्मिक और सामाजिक अवस्था शोचनीय थी।"[2] स्त्री-शिक्षा का अभाव बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, बहु विवाह, विधवा-विवाह, अस्पृश्यता, सती-प्रथा तथा जाति-भेद आदि समस्याएँ भारतीय समाज के विकास-क्रम को अवरुद्ध कर रहीं थीं। अँग्रेजी-प्रभाव से उत्पन्न नवीन सामाजिक-दृष्टि ने सामाजिक दुर्बलताओं एवं दुर्व्यवस्थाओं को दूर करने की प्रेरणा प्रदान की। देश के महान पुरुषों ने

1. काव्य की भूमिका : डा. रामधारीसिंह 'दिनकर', पृ० २
2. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग : डा. उदयभानुसिंह, पृ० ५

आत्म गौरव एवं आत्म-प्रगति की महत्त्वाकाँक्षा से प्रेरित होकर देश की सामाजिक व्यवस्था को सुधारने के लिए अनेक प्रयास किए। इस समय भारत के गौरव के पुनरुत्थान संबंधी कई आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ। डॉ० भोलानाथ के शब्दों में, "१६१७ ई० के महायुद्ध तक ये सामाजिक आन्दोलन प्रत्यक्षतः बड़े ही जोरों पर थे। इस समाज-सुधार के मुख्य अंग थे—दहेज, विदेश-गमन, छूत-छात आदि। पाठशालाओं, धर्मशालाओं, अखाड़ों, अन्नाश्रयों, देवालयों आदि का निर्माण भी सामाजिक दृष्टि से होने लगा। न जाने कितनी सामाजिक संस्थाएँ बनीं। आर्यसमाज और बौद्धसमाज के बौद्धिक दृष्टिकोणों ने पुराने समाज को हिला दिया। आर्यसमाज की हुंकार ने सारे हिन्दू समाज को चौंका दिया।"[1]

आर्यसमाज ने हिन्दी-प्रदेश की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए विशेष प्रयास किए। हिन्दी प्रदेश की अपेक्षा बंगाल में इस के प्रति विशेष उत्साह एवं सम्मान-भाव देखने को मिला। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' में विधवा-विवाह का समर्थन और बाल-विवाह को समाज की प्रगति में बाधक मानकर उसका विरोध किया।

देश में अनेक छोटे-छोटे आन्दोलन समाज की किसी न किसी समस्या को लेकर उत्पन्न हुए। डॉ० आत्माराम ने 'प्रार्थना-समाज' की स्थापना की और इसके माध्यम से निराकार वादी प्रथा तथा जाति-प्रथा का विरोध किया। 'प्रार्थना-समाज' की ही एक अंग-संस्था 'दलितोद्धार मिशन' ने समाज-सुधार की दिशा में कई महत्वपूर्ण कार्य किए। १६१८ ई० में स्वामी विवेकानन्द ने 'रामकृष्ण-मिशन' की स्थापना की। स्वामी जी ने प्रायः सभी प्रकार के सामाजिक सुधारों के लिए हिन्दू-धर्म शास्त्रों की उपादेयता का प्रतिपादन किया, इससे भारतीय जनता में हिन्दू धर्म के प्रति विश्वास एवं श्रद्धाभावना का पुनर्जागरण हुआ। जीवन और समाज में सुधार लाने वाली संस्थाओं में 'थीयोसोफिकल सोसायटी' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस सोसायटी की स्थापना तो रूसी महिला मदाम लावत्सकी और कर्नल आलकोट ने १८५७ ई० में अमेरिका में की, किन्तु आयरिश लेडी श्रीमती एनीबेसेंट ने भारतवर्ष में इसका प्रचार-प्रसार किया। श्रीमती बेसेंट ने भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की नई व्याख्या प्रस्तुत की, इससे भारतवासियों को अपनी अतीत की संपन्नता का बोध हुआ।

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : डा. भोलानाथ, पृ० ४०

आलोच्य काल में हिन्दू-धर्म अनेक संप्रदायों में विभक्त हो चुका था। सभी संप्रदाय अपनी-अपनी ढपली पर अपना-अपना राग अलाप रहे थे। दैनिक व्यवहार में तीर्थयात्रा, मूर्तिपूजा एवं व्रत आदि ब्राह्माचारों का प्राधान्य था। इसी समय लोकमान्य तिलक और महात्मागाँधी ने गीता का ज्ञान कराकर मानवतावादी विचारधारा का प्रचार किया। "यह एक आश्चर्यजनक घटना है कि इस युग में गीता ने तिलक, बेसेन्ट, गाँधी आदि सभी का ध्यान आकृष्ट कर भारतीय धर्म का सभी प्रकार की कुरीतियों और कुप्रथाओं से विहीन विशुद्ध विश्व कल्याणकारी रूप प्रस्तुत करने के लिए उन्हें प्रेरणा प्रदान की।"[1] लोकमान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' में गीता के प्रवृत्ति मूलक और कर्मप्रेरक स्वरूप का उद्घाटन कर उसकी ओर भारतीय जनता का ध्यान आकर्षित किया : लोकमान्य तिलक ने योम तथा भक्ति में समाविष्ट अकर्मण्यता की ओर भी इंगित किया। उन्होंने मानवोचित उपायों के द्वारा आत्मरक्षा के प्रयासों तथा अन्याय एवं अनीति के विरोधों को धर्म के अंगों के रूप में प्रतिष्ठित कर धर्म के व्यावहारिक पक्ष को महत्व प्रदान किया। 'गीता-रहस्य' के महत्व के संबंध में दिनकर का निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है —"हमारा मत है कि गीता एक बार तो भगवान कृष्ण के मुख से कही गयी, किन्तु दूसरी बार उसका सच्चा आख्यान लोकमान्य ने किया है।"[2]

नवीन शिक्षा और साहित्यानुशीलन से देश में राष्ट्रीय भावना, सुधारवादी प्रवृत्ति मानवतावादी दृष्टि, लोक तान्त्रिक विचारपद्धति, वैज्ञानिक दृष्टि इत्यादि का प्रादुर्भाव हुआ। राजनीतिक कारणों से जनता में हिन्दी के प्रति अनुराग-भाव का उदय हुआ और उसका क्रमशः विकास होता गया। 'नागरी प्रचारिणी सभा' और 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' संस्थाओं ने हिन्दी के प्रचार के साथ-साथ उसके माध्यम से राष्ट्रीयभावना का भी संचार किया। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' पत्रिका ने खड़ीबोली साहित्य को प्रोत्साहित कर उसे विकासोन्मुख बनाया।

आचार्य द्विवेदी के प्रयासों के परिणाम स्वरूप शिक्षित जनता में संस्कृत के संस्कारों का जागरण हुआ। अँग्रेजी साहित्य के अध्ययन के कारण देश के शिक्षित-वर्ग का 'स्वच्छन्दतावाद' से परिचय हुआ और उसके प्रभावस्वरूप अँग्रेजी के अनेक ग्रन्थों के हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किए गए।

आलोच्यकाल सांस्कृतिक जागरण का काल है। विवेच्य कवियों ने इस

1. बीसवी शताब्दी : हिन्दी साहित्य नए संदर्भ : डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ८२
2. संस्कृति के चार अध्याय : रामधारीसिह 'दिनकर', पृ० ६१३

सांस्कृतिक नव जागरण की अपनी रचनाओं में यथार्थ एवं मार्मिक अभिव्यक्तियाँ की हैं। वर्तमान की यथार्थ अभिव्यक्ति करने और प्राचीन काव्यों को विषयवस्तु का आधार बनाने के कारण इस काल के काव्य में नैतिकता एवं इतिवृत्रात्मकता की प्रमुखता रही है। यह नैतिक एवं इतिवृत्त प्रधान काव्य उपयोगितावादी काव्य-सिद्धान्त का संपोषक है। पाश्चात्य शिक्षा और साहित्य के अनुशीलन के परिणाम स्वरूप विवेच्य काल में स्वच्छन्दतावाद का उन्मेष हुआ। इस स्वच्छन्दतावादी नवोन्मेष ने काव्य में अत्यधिक प्रकृत्ति-प्रेम, वैयक्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति और मनोरम भाषा-शैली आदि कलावादी तत्वों का संयोजन किया।

(ख) राजनैतिक परिवेश

विवेच्यकाल की राजनीति को अकाल, प्लेग, शासकीय भेद-नीति, शिक्षा, अर्थ-नीति इत्यादि ने पर्याप्त प्रभावित किया है। देश-भर में असंतोष, अशान्ति, अविश्वास, वैमनस्य और कटुता का वातावरण परिव्याप्त था। शनैः शनैः कांग्रेस का प्रभाव बढ़ रहा था और वह विनय तथा राजभक्ति के स्थान पर उग्रता एवं विरोध की ओर उन्मुख हो रही थी। रूस-जापान युद्ध (१९०४ ई०) के प्रभाव स्वरूप भारत वर्ष में भी राष्ट्रीयता की भावना का संचार हुआ। लॉर्ड कर्जन के शासन-काल (१८९९-१९०५ ई०) में उसकी स्वेच्छाचारिता, निरंकुशता एवं प्रतिक्रियावादी शिक्षा-नीति आदि के कारण देश की राजनीति में अशान्ति एवं असंतोष की और भी वृद्धि होती गई। लॉर्ड कर्जन द्वारा 'बंग-भंग' (२० जुलाई १९०५ ई०) की शासकीय घोषणा के पश्चात भारतीय नेता यह समझ गए थे कि विदेशी सरकार भारत का हित नहीं चाहती, वह विभाजन के द्वारा अपनी स्वार्थ-सिद्धि — अपनी सत्ता को बनाए रखना — चाहती है। अतः एक व्यापक जन-आन्दोलन प्रारंभ हो गया। सरकार के दमन-चक्र से यह आन्दोलन रुक नहीं सका। पंजाब में प्रवास-संबंधी बिल, प्रेस ऐक्ट एवं सभाबन्दी-कानून आदि कारणों से विद्रोह-भावना और भी तीव्रतर होती गई। बंग-भंग के पश्चात् भारतीय राजनीति में उल्लेख्य परिवर्तन हुए। इनमें मुस्लिम लीग (१९०६ ई०) की स्थापना एक प्रमुख घटना थी। इस समय शासकों को भी तरह-तरह की शंकाएँ घेरने लगी थीं और वे अपने शासन-संचालन के प्रति चैतन्य हो गए थे। भारतवासियों के हृदयों में राष्ट्रीयता की चिनगारी अब लपटों का रूप धारण करती जा रही थी। सूरत के अधिवेशन (१९०७ ई०) में कांग्रेस दो भागों — नरम दल तथा गरम दल — में विभक्त हो

गई। इस विभाजित कांग्रेस के गरमदल के नेता लोकमान्य तिलक और नरम-दल के नेता गोपाल कृष्ण गोखले थे। गरम दल ने रेलों को रोकना, बम फेंकना, हत्याएँ करना इत्यादि कार्य प्रारंभ कर दिए। १६०६ ई० में 'इंडियन कौंसिल ऐक्ट' के अन्तर्गत 'मिन्टो मार्ले सुधार' सरकार द्वारा प्रस्तुत किए गए, जो अपर्याप्त थे। भारतवासियों ने इस योजना का स्पष्ट रूप में तो विरोध नहीं किया, किन्तु उनके हृदयों में सरकार के प्रति अविश्वास की भावना अवश्य विद्यमान थी। वे अपने लक्ष्य-स्वतन्त्रता की प्राप्ति को नहीं भूले थे। १६११ ई० में सम्राट तथा साम्राज्ञी का भारत वर्ष में आगमन हुआ। इसी समय राजनीति के क्षेत्र में दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुई। एक, बंग-भंग का रद्द किया जाना और दूसरी, कलकत्ता के स्थान पर देहली राजधानी बनाया जाना। बंग-भंग समाप्त कर देने से कांग्रेस सरकार के प्रति अपेक्षा कृत उदार हो गयी।

विवेच्य काल खण्ड की राजनीति में प्रथम महायुद्ध (१६१४-१८ ई०) एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इस घटना ने भारतीय राजनीति को परोक्ष रूप से प्रभावित किया। भारतवासियों ने अपनी राजभक्ति का परिचय देते हुए युद्ध में ब्रिटेन का साथ दिया, किन्तु फिर भी शासकों की नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। "उनको (भारतवर्ष) तो इस युद्ध के फलस्वरूप आर्थिक दिवालियापन, लकड़ी की टाँगें, विधवाएँ और अनाथ, कोरी प्रशंसाएँ कुछ उपाधियाँ और थोड़े से विक्टोरिया कॉस ही प्राप्त हुए। × × × युद्ध के बाद भारत की आँखें खुल गई और इंगलैंड के प्रति अविश्वास की भावना जाग उठी।"[1] इसी समय रूसी क्रान्ति (१६१६ ई०) की सफलता से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संघर्षपथ पर अग्रसर देश भक्तों को सम्बल मिला। १९१६ ई० के 'रौलट बिल' के स्वीकृत होने के समय से भारतीय राजनीति के इतिहास में गाँधी-युग का श्री गणेश होता है। गाँधी जी ने 'रौलट ऐक्ट' के विरोध में सत्याग्रह प्रारंभ किया जनरल डायर की बर्बरता की नीति जलियानवाला बाग के दुष्काण्ड (१६१६ ई०) के रूप में प्रकट हुई। इस काल में देश भक्तों पर अमानुषिक अत्याचार दिन-दिन बढ़ते जा रहे थे। देश भर में 'मार्शल लॉ' का आतंक छाया हुआ था।

उपर्युक्त राजनैतिक परिवेश ने समकालीन काव्य-रचना को प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूपों में प्रभावित किया है। सरकार की स्वार्थपरता, स्वेच्छाचारिता के कारण देश में स्वतन्त्रता-प्राप्ति तथा राष्ट्र-प्रेम की भावनाएँ जाग्रत

1. अर्वाचीन भारत का इतिहास : ईश्वरीप्रसाद, पृ० ४५७

होकर क्रमशः विकसित होती गयीं, जिसके परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय चेतना से पूर्ण उपयोगितावादी काव्य प्रचुर परिमाण में सृजित हुआ। यह राजनैतिक परिवेश का काव्य पर प्रत्यक्ष प्रभाव था। विवेच्यकालीन राजनीतिक परिवेश आशा-निराशा की भावनाओं से युगपद पूरित था। देश, जहाँ एक ओर कर्मठ देश भक्तों के नेतृत्व में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष-पथ पर आशा-उत्साह के साथ अग्रसर हो रहा था, वहीं दूसरी ओर, वह अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं, पारस्परिक मत-भेद और सरकारी भेद-नीति से आतंकित भयाकुल एवं हताश भी था। इस परिवेश ने काव्य को परोक्ष रूप में प्रभावित किया संवेदनशील कवियों का इन आशा-निराशा की भावनाओं-सुखात्मक-दुखात्मक अनुभूतियों से प्रभावित होना स्वाभाविक था। कवि-मानस में आशा-निराशा की विधर्मी वीचियों के घात-प्रतिघात से वेदना, कल्पना एवं रहस्य का फेन पुंजीभूत होता चला गया। इस प्रकार विवेच्य कवि वेदना, कल्पना एवं रहस्य से पूरित काव्य-रचना की ओर उन्मुख हुए और उनकी ये रचनाएँ (वेदना, कल्पना तथा रहस्य से पूर्ण) काव्य में कलावादी प्रवृत्ति के स्फुरण का आधार बनी।

(ग) आर्थिक परिवेश

विदेशी शासकों की आर्थिक नीति भारतवर्ष के लिए हितकर नहीं थी। इस नीति के मूल में शासकों का स्वार्थ निहित था। वे मीठी-मीठी थपकियाँ देकर देश का शोषण कर रहे थे। लाला लाजपतराय ने विदेशी शासकों की आर्थिक नीति का निम्नांकित शब्दों में रहस्योद्घाटन किया है—"वर्तमान परिस्थिति यह है कि ब्रिटेन साम्राज्य के विनोद के लिए बाजा बजवाता है और बाजा बजाने वाले का वेतन देता है भारतवर्ष। यह बाजा बजाने वाला प्रायः स्वयं ब्रिटेन ही होता है।"[1] मिल तथा कारखानों के निर्माण से देश के उद्योगधंधों को बड़ी क्षति उठानी पड़ रही थी। दुर्भिक्षों के प्रकोप ने जनता के आर्थिक जीवन को जर्जर बना दिया था। कृषि-प्रधान देश के कृषक की आर्थिक दशा अत्यन्त दयानीय थी। तत्कालीन कृषि-व्यवस्था और ज़मींदारी प्रथा के पीछे भी राजसत्ता का स्वार्थ—जल्दी से जल्दी लगान वसूलना निहित था। भारतीय कृषक बेकारी, भुखमरी, मँहगाई, बेगारी और ऋण से पीड़ित था। देशी रियासतों और नवाबों ने जनता के जीवन को और भी दयनीय बना रखा था। यह एक

1. दुखी भारत : लाला लाजपतराय, पृ० ३६७

ऐसा वर्ग था जो स्वार्थो की दृष्टि से राजसत्ता के सर्वाधिक समीप था। पटवारी, मुखिया, चौकीदार और पुलिस आदि अनेक प्रकार से कृपक के शोषण में लिप्त थे। साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में आश्चर्य प्रकट किया था कि कहीं-कहीं जमींदार तथा भूश्रमिक के बीच पचास या उससे भी अधिक मध्यस्थ उपजीवी स्वार्थ हैं, जो किसान के परिश्रम पर ही निर्भर हैं।[1] देश की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए देश भक्त नेताओं ने अनेक कार्य-—विदेशी वस्त्रों तथा अन्य वस्तुओं का बहिष्कार, स्वदेशी वस्त्रों का प्रयोग, मादक द्रव्यों का परित्याग, लघु उद्योग-धंधों का प्रचार इत्यादि—की ओर ध्यान दिया, किन्तु इनसे दरिद्र तथा दुखी जनता की दशा में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आ सका।

शासकों की शोषण-नीति, दयनीय आर्थिक स्थिति तथा सामाजिक जीवन की हेयता ने कवियों की चेतना को झंकृत कर दिया। वे संत्रस्त, विपण्ण और नीरस यथार्थ समाज के साथ-साथ मानस-लोक—कल्पना के रमणीय लोक—में भी झाँकने लगे। इस प्रकार तत्कालीन काव्य में काल्पनिकता वैयक्तिकता, पलायनवादिता इत्यादि कलावादी धारणा के पोषक तत्त्वों की अवतारणा हुई। यहाँ यह उल्लेख्य है कि दयनीय आर्थिक परिस्थितियों के कारण कलावादी तत्त्वों की उर्वरक भूमि क्रमशः तैयार हो रही थी, किन्तु उनका स्फुरण आलोच्य काल के अन्तिम चरण में हो सका।

(घ) साहित्यिक परिवेश

कोई भी काव्य-धारा किसी काव्य-युग के परिवर्तन के साथ सहसा विलीन न होकर मन्दामन्द गति से नवागत धारा (धाराओं) के साथ प्रवाहित रहती है तथा कालान्तर में तत्कालीन दबावों और प्रभावों के कारण विलुप्त हो जाती है। विवेच्य काव्य के संबंध में भी यह सिद्धान्त सत्य सिद्ध होता है। भारतेन्दु युगीन काव्य को विवेच्य काल की साहित्यिक पृष्ठभूमि के रूप में लिया जा सकता है। "भारतेन्दुयुग की कविता जीवन की समालोचना करने बैठी। इस समय के कवियों ने केवल कल्पना लोक में विचरण न कर अपने वास्तविक जीवन की भी अभिव्यंजना की।"[2] इस काल का समूचा काव्य अपनी राष्ट्रीयता, समाजोन्मुखयथार्थता, तथा वर्णनात्मकता आदि प्रवृत्तियों के कारण उपयोगितावादी था, हाँ परंपरागत रीतिकालीन प्रेम-श्रृंगार-वर्णन में कलावादिता की झलक अवश्य मिल जाती

1. साइमन रिपोर्ट (प्रथम भाग), पृ० ३४०
2. आधुनिक काव्य-धारा : डा. केसरीनारायण शुक्ल, पृ० २६

है। समीक्ष्य काल (१६०१-२० ई०) को "भारतेन्दु-युग का बढ़ा हुआ चरण"[1] कहा जा सकता है। इस काल-खण्ड में भारतेन्दुयुगीन नवचेतना (राष्ट्रीयता, सामाजिक यथार्थ, वर्णनात्मकता इत्यादि) और अधिक विकसित रूप में प्रतिष्ठित होती है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की पुनरुत्थान मूलक सुधारवादी नीति इस चेतता को प्रतिष्ठित करने में और भी सहायक सिद्ध हुई।

विवेच्य काव्य में आदर्शवादिता और इति-वृत्तात्मकता की प्रचुरता के कारण ऐसा लगता है कि ये कवि कविता के रूप को उपयोगितावाद के दर्पण से देखने के आदी हो गए हैं।

काव्य की अत्यधिक आदर्शवादिता एवं इतिवृयात्मकता की प्रतिक्रिया स्वरूप विवेच्यकाल के अन्तिम चरण में एक नव्य काव्यशैली का आगमन हुआ, जिसमें सूक्ष्मता, सांकेतिकता, व्यंजकता तथा कल्पना विलास की माधुरी थी। रवीन्द्रनाथ टैगोर की बँगला की कविताओं के संपर्क से इस शैली का पूर्ण विकास होता है। द्विवेदी युगीन काव्य के संबन्ध में डा. इन्द्रनाथ मदान के निम्नांकित शब्दों में काव्य का यही विकसित रूप संकेतित है—इसके अन्तिम चरण में काव्य की वस्तु तथा उसका शिल्प छायावादी कविता के लक्षणों को सूचित करने लगता है।"[2]

साहित्यिक परिवेश के उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विवेच्यकाल के पूर्वार्द्ध तक मुख्यतः भारतेन्दुयुगीन प्रवृत्तियाँ ही अभिव्यक्ति पाती रहीं और इस अवधि का काव्य पूर्ववत् उपयोगितावादी रूप में ही सृजित हुआ। विवेच्यकाल के लगभग उत्तरार्द्ध में आदर्शवादिता एवं इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया स्वरूप काव्य उपयोगितावादी स्थूलता को छोड़कर कलावादी विन्दुओं का भी संस्पर्श करने लगा है।

(ङ) निष्कर्ष

अन्त में हम कह सकते हैं कि आलोच्यकालीन परिवेश सामाजिक—साँस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक और साहित्यिक हलचलों की प्रकंपित भूमि पर अवस्थित है। इस काल-खण्ड में सांस्कृतिक जागरण का दौर अपनी पूरी रवानगी पर है। इस सांस्कृतिक जागरण का तत्कालीन काव्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव दो रूपों में परिलक्षित होता है—

(१) कलावादी काव्य समाज की सम्पन्नता-समृद्धता एवं शान्त वातावरण में अधिक लिखा और पढ़ा जाता है। दैन्य, दुःख, दरिद्रता, उत्पीड़न आदि से

1. बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नए संदर्भ : डा. लक्ष्मीनारायण वार्ष्णेय, पृ० ६
2. आधुनिक कविता का मूल्यांकन : डा. इन्द्रनाथ मदान, पृ० २६

पूर्ण विषम समाज में कवियों की एकान्त समाधि अधिक समय तक स्थिर नहीं रह पाती है और उन्हें अपने अन्तर्मन की गुत्थियों को खोलने और कविता-कामिनी के साज-श्रृंगार के लिए उपकरण जुटाने का अवकाश भी कम ही मिल पाता है। सांस्कृतिक जागरण से उत्साहित और सामाजिक समस्याओं से चिन्तित विवेच्य राष्ट्र-प्रेम और समाजसुधार की भावनाओं को सरल-वर्णनात्मक शैली में अभिव्यक्त करने में दत्तचित्त हुए हैं। अतः इस अवधि का अधिकांश काव्य उपयोगितावादी है।

(२) सांस्कृतिक जागरण और विषम परिस्थितियों के प्रभाव का एक पक्ष काव्य में असाधारण भावनाओं, अतिरंजित कल्पनाओं और वेदना-जन्य निराशाओं के रूप में विद्यमान है, जिसने कलावादी काव्य-रचना का मार्ग प्रशस्त किया है।

● ●

४. काव्यदर्शन और कलावाद

विवेच्यकाल (१९०१—२० ई०) को हिन्दी-साहित्य में द्विवेदी-युग की संज्ञा से अभिहित किया गया है। द्विवेदी युगीन काव्य अपनी उपदेशात्मक और इतिवृत्तात्मक प्रवृत्तियों के कारण उपयोगितावादी धारणा का प्रबल समर्थक एवं सम्पोषक कहा जा सकता है; किन्तु इसे मात्र इतिवृत्तात्मकता और उपदेशात्मकता तक सीमित रखकर देखना अनौचित्यपूर्ण एवं अनैतिहासिक होगा। इस काल के काव्य में परंपरागत शृंगारी भावनाओं के चित्रण में तथा स्वच्छंदतावाद से प्रभावित भावपूर्ण वर्णनों में कलावादिता के सूचक लक्षणों को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। विवेच्यकाल के काव्य की विषयगत कलावादी प्रवृत्तियों का निम्नांकित रूपों में अध्ययन किया जा सकता है—

(क) निश्चेष्ट सौन्दर्य-चित्रण

विवेच्य-काल की आदर्शवादिता एवं नीतिमत्ता के कारण तत्कालीन अधिकांश सौन्दर्य-चित्रण मर्यादित एवं संयत रूप में प्रस्तुत हुआ है। फिर भी, रीति-परंपरा पर नारी के रूप का वर्णन करनेवाले कवियों की रचनाओं और इतिवृत्तात्मकता एवं नीतिमत्ता की प्रतिक्रिया में होनेवाले स्वच्छंद सौंदर्यांकन पर उसके वासनापरक निश्चेष्ट रूप को भी देखा जा सकता है। इस वासना-परक निश्चेष्ट सौन्दर्य-चित्रण के मुख्यतः दो आधार हैं—नारी का रूप-सौन्दर्य तथा प्रकृति-सौन्दर्य।

दरबारी-संस्कृति में पालित-पोषित रीतिकालीन सौन्दर्य-बोध प्रायः मनो-विनोद और उन्मुक्त भोगविलास की सामग्री जुटाने में ही अपनी शक्ति का भरपूर उपयोग करता रहा। विवेच्य-काल के नारी के रूप-सौन्दर्य-चित्रण में भी रीति का लीन परंपरा का परिपालन परिलक्षित होता है। इन आधुनिक कवियों की दृष्टि भी नारी की मांसल एवं काम-लोल-देह-छवि पर टिकी-रीझी है। इन कवियों में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर' प्रमुख हैं।

आचार्य द्विवेदी के रूप-सौन्दर्य-चित्रण में परंपरागत नख-शिख वर्णन की स्थूलता एवं उत्तेजकता है। उदाहरणार्थ आचार्य श्री की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

कटि इसकी न भग हो जावे,
चलती कही न यह गिर जावे।
इससे त्रिवली-बंध बनाया,
विधि ने यह चातुर्य्य दिखाया।[1]

तथैव—

इसका कुच-नितम्ब-विस्तार,
सचमुच है अत्यन्त अपार।
द्रष्टि युवक जन की जो जाती,
थककर वहीं पड़ी रह जाती।[2]

कविवर 'शंकर' द्वारा प्रस्तुत नायिका के कुचों का वर्णन मन की तरल वासना में उद्वेलित कर देनेवाला है—

कंदुक से गोल-गोल नील कंचुकी में कसे,
कलश समान भरे काम-केलि-रस के।
होत पारिजात फल भोगिन के हाथन में,
बज्र से वियोगिनि के गातन में कसके।[3]

जयशंकर प्रसाद तथा सुमित्रानंदन पंत की प्रारम्भिक रचनाओं में भी रीति का लीन प्रभाव दिखाई पड़ता है। प्रसाद के 'झरना' काव्य-संग्रह की सौन्दर्य-विषयक रचनाओं में रीतिकालीन रँग प्रमाद और स्पष्ट रूप में प्रस्तुत हुआ है। उदाहणार्थ प्रसाद की नायिका का रूप-सौन्दर्य द्रष्टव्य है—

ये बंकिम भ्रू युग कुटिल कुन्तल घने,
नील नलिन से नेत्र-चपल मद से भरे।
अरुणराग-रंजित कोमल हिम-खण्ड से—
सुन्दर गोल-कपोल सुढर नासा बनी।[4]

यद्यपि कविवर पंत का सौन्दर्य-बोध रीतिकालीन नख-शिख-वर्णन से अपेक्षाकृत कम प्रभावित है, तथापि उसके चित्रण की रेखाएँ वही हैं—

लाज की मादक सुरा सी लालिमा,
फैल गालों में, नवीन गुलाब से,

1. द्विवेदी-काव्यमाला : (सग्रहकार) देवीदत्त शुक्ल, पृ० ३७६
2. वही, पृ० ३७६
3. शकर-सर्वस्व : (सम्पादक) हरिशंकर शर्मा, पृ० २९२
4. झरना : जयशंकर प्रसाद, पृ० २०

छलकती थी बाड़ सी सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों से, सीप से ।[1]

संस्कृत के प्रकृति-वर्णन तथा अँग्रेजी की रोमाण्टिक कविताओं के प्रभाव-स्वरूप विवेच्यकाल के अन्तिम दशक (लगभग १६११ ई० से) में प्रकृति के प्रति स्वच्छंद द्रष्टिकोण का स्फुरण होता है । विवेच्य कवि लोक-समाज की चिन्ता न करते हुए अपने भावों के स्वच्छंद प्रकाशन के लिए प्रकृति को माध्यम बनाकर प्रस्तुत करने लगते हैं । प्रकृति के ये स्वछंद चित्र सचेतन, वासनापूर्ण और काम्मोद्दीपक रूप में प्रस्तुत हुए हैं । इस सन्दर्भ में श्रीधर पाठक की 'काश्मीर सुषमा', सुमित्रानंदन पंत की सरिता (१६१८ ई०), 'बसन्त-श्री' (१६१८ ई०), 'किरण के प्रति' (१६१८ ई०), प्रथम रश्मि (१६१६ ई०), 'स्वप्न' (१६१६ ई०) तथा 'छाया' (१६२० ई०) और निराला की 'जूही की कली' (१६१७ ई०) शीर्षक कविताओं को प्रमुख रूप में रखा जा सकता है । जयशंकर प्रसाद के 'प्रेम-पथिक' और 'झरना' काव्यों में भी प्रकृति का स्वच्छंद रूप में अंकन हुआ है, जो कवि के अन्तर्दर्शन के प्रति सत्यनिष्ठता का द्योतक है ।

आधुनिक कवियों को ने समस्त कोलाहल से दूर एकान्त में श्रृंगार करती हुई प्रकृति सुन्दरी की मनमोहन सौन्दर्य-छटा को एक रसिफ व्यक्ति की भाँति छुप-छुप कर देखा है, और अपने मन-नेत्रों की पिपासा की परितृप्ति की है—

प्रकृति यहाँ एकान्त बैठ निज रूप संवारति ।
पल-पल पलटति भेस छनिक छवि छिन-छिन धारति ।
विहरति विविध विलास भरी जोवन के मद सनि ।
ललकति किलकति पुलकति निरखति थिरकति बनि-ठनि ।
मधुर मंजु छवि पुंज छटा छिरकति वन-कुंजन ।
चितवति रिझवति, हंसति डसति मुसक्याति हरति मन ।[2]

प्रसाद 'होली की रात' का मदिर-मादक चित्र प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

तरल हीरक लहराता शान्त,
सरल आशा-सा पूरित ताल,
सिताबी छिड़क रहा विधु-कान्त,
बिछा है सेज कमलिनी-जाल ।[3]

1. ग्रंथि : सुमित्रानंदन पंत, पृ० १०
2. कश्मीर-सुषमा : श्रीधर पाठक, पृ० ५
3. झरना : जयशंकर प्रसाद, पृ० ६८

'कुसुम दलों से लदी हुई धरणी को सम्भोग सेज' के रूप में चित्रित करते हुए कवि का अनुरागी मन उसमें रोमानी रंगीनी देखता है—"कुसुम-दलों से लदी हुई धरणी का यह शोभन उद्यान किसके क्रीड़ा-कुंज-समान दिखाई देता है। सुन्दर किसकी यह सम्भोग सेज थी सजी? अभी उठकर जैसे चला गया है। परिमल-मिलित बूंद श्रम के ये बिखरे हैं।"[1] महाकवि निराला की 'जूही की कली' कविता कली (नायिका) और मलयानिल (नायक) के परस्पर आलिंगन-परिरम्भन का सजीव संभोग चित्र है। महाकवि की कविता में 'स्नेह-स्वप्न-मग्न-अमल-कोमल-तनु-तरुणी जूही की कली' के यौवन-सौन्दर्य की मदिर-मदिर गंध बिखर रही है, जो मानस को तरल वासना में तरंगायित कर देती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आलेच्य काव्य में प्रस्तुत सौन्दर्य अपनी मांसलता, उत्तेजकता, रोमांटिकता तथा अमूर्त्तता के कारण निश्चेष्ट सौन्दर्य बनकर रह गया है, जो किसी जीवनोपयोगी महत् उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रेरित नहीं करता है। अतः इस निश्चेष्ट सौन्दर्य-वर्णन की प्रवृत्ति को कला-वाद की एक विशेषता माना जा सकता है।

(ख) स्वच्छन्द प्रेम का निरूपण

यद्यपि द्विवेदी काल के त्याग, संयम एवं नैतिकता आदि युगादर्शों ने प्रेम का संयत, समाजिक, मर्यादित एवं सात्विक रूप निर्मित किया तथापि रीति-कालीन रंगत के प्रभाव और पाश्चात्य काव्य के संपर्क से उत्पन्न नयी चेतना के कारण समीक्ष्य काव्य में प्रेम, स्वच्छन्द एव निबिड़ वासना के उन्मादक चित्र के रूप में भी प्रस्तुत हुआ है। विवेच्य कवियों के प्रेम का रंगमहल वासना, रसिकता, निबधि सम्भोग-विलासिता, निक्रिय भावुकता एवं ऐकातिकता की भित्तियों पर खड़ा हुआ है।

रीतिकाल के कवि 'राधिका-कन्हाई' के 'सुमिरन' के 'बहाने' अपने मन-मानस की पंकिल-मलिन 'कविताई' की कोमल कमल–'कली' से ही बँधे-बाँधते रहे, उसमें सामाजिकता का 'पराग', गंभीरता का 'मधुर मधु' और निःस्वार्थता का 'विकास' नहीं था। "उनकी (रीति कवियों की) कवि-कल्पना किसी कल्पित ब्रज की कुंज गलियों की भूल-भुलैयों में ही चक्कर काटती रही।"[2] आधुनिक काल के प्रथम प्रभात (भारतेन्दु-युग) से ही इस संकीर्णता के प्रति

1. प्रेम-पथिक : जयशंकर प्रसाद, पृ० २५
2. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास : डा. श्रीकृष्णलाल, पृ० ३४

कवि सजग हो गए थे और विवेच्यकाल के पुरोधा आचार्य प्रवर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने तो इस भवचाप के भंजन के लिए कवियों को स्पष्ट शब्दों में आदेश भी दिया—"यमुना के किनारे केलि–कौतूहल का अद्भुत-अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। + + + + चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, विन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत–सभी पर कविता हो सकती है, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है।[1]" इसमें संदेह नहीं कि विवेच्यकाव्य विषयगत संकीर्णता को छोड़कर जीवन के व्यापक धरातल पर अवतरित हुआ किन्तु वह रीतिकालीन प्रेमभावना के हेमाभ-मोहा-कर्षण से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सका। रीति-परिपाटी पर प्रेम-निरूपण करने वाले प्रमुख कवि महावीर प्रसाद द्विवेदी, नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर', रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' तथा जय शंकर प्रसाद ('झरना' तथा 'चित्राधार' की कतिपय रचनाएँ) आदि हैं। कविवर 'शंकर' की निम्नांकित पंक्तियों में रसकेलि का नग्न चित्रण देखिए—

'शंकर' निशंक परियंक परलंक अंक
दाब के मयंक मुखी जाके कुच मसके।
चोली-बन्द टूटे, स्वेद छूटे पै न बोली भोली,
'सी' कर सिवाय 'छोड़-छोड़ बस-बस' के।[2]

अधोलिखित पंक्तियों में नायक-नायिका की झटका-पटकी का रंग कितना गाढ़ा हो गया है—

केलि करे रस-रंग भरी परियंक परी धन संग धनी के,
दे झटका, पटकी लटकी लट छूट के बन्धन बैनी फनी के।[3]

कविवर 'शंकर' की कवित्त तथा सवैया छन्दों में उल्लिखित अनेक समस्या—पूर्तियाँ रीति-कवियों की कविताई के समक्ष रखी जा सकती हैं जिनमें वासना वसित प्रेम (मोह, आलिंगन, चुंबन, कामोद्दीपक चेष्टाएँ अदि) की गंध विद्यमान है। एकनिष्ठ किन्तु, अमर्यादित एवं असामाजिक परकीया–प्रेम की प्रस्तुति निम्नांकित सवैया में अवलोकनीय है—

भई ढीठ फिरें चल चंचल सी यह नीति नहीं इनकी है नई,
नई देख मनोहरता कतहूँ थिरता इनमें नहीं पाई गई।

1. रसज्ञ रंजन : आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ० २२-२३
2. शंकर-सर्वस्व : (सम्पादक) हरिशंकर शर्मा, पृ० २९२
3. वही, पृ० ३०६

गई लाज सरूप-सुधा चखि के इनकी न तवौं कुटिलाई गई,
गईं खोजत ठौर हि ठौर तुम्हें अखियाँ अब तो हरजाई भई ।[1]

प्रसाद के 'झरना' संग्रह की 'वालू की वोला' 'निवेदन' इत्यादि कविताओं में काम्मोद्दीपक एवं वासना-वलित प्रेम की प्रस्तुति हुई है। प्रसाद का रसिक मन प्रिय को थोड़ा सा भी दूर नहीं जाने देना चाहता है। कवि का यह प्रेम मोहजनक है, जिसमें भोग की कामना प्रबल हो उठी है—

जिसे चाह तू उसे न कर आँखों से कुछ भी दूर।
मिला रहे मन, मन से छाती, छाती से भरपूर ।[2]

'झरना' की निम्नांकित पंक्तियों में ऐकान्तिक प्रेम-व्यापार का वर्णन द्रष्टव्य है—

निर्जन था—पर हम दोनों थे
वृत्तियाँ रह न सकीं फिर शान्त।
कहा जब व्याकुल हो उनसे
मिलेगा कब ऐसा एकान्त।
हाथ में हाथ लिया मैंने,
हुए वे सहसा शिथिल नितान्त।
मलयताड़ित किसलय कोमल,
हिल उठीं उँगली देखा भ्रान्त ।[3]

'झरना' के प्रारंभिक गीतों में उर्दू काव्य की भावधारा का प्रभाव परिलक्षित होता है, जिनमें प्रेम का निष्क्रिय एवं अगंभीर स्वरूप प्रकट हुआ है।

पाश्चात्य काव्य के संपर्क और अत्यधिक इतिवृत्तात्मक की प्रतिक्रिया के स्वरूप काव्य में स्वच्छन्द-चेतना का स्फुरण हुआ। इस नवागत चेतना के साथ-साथ काव्य के क्षेत्र में एक नवीन कलात्मकता की संभावना का मार्ग प्रशस्त हुआ, जो विवेच्यकाल के उत्तरार्द्ध (१९११-२० ई०) में अपने मूर्त रूप में विराजमान दृष्टिगोचर होती है। कवियों का रुद्ध अन्तरावेग उन्मुक्त होकर प्रवहमान हो उठा और काव्य में अतिशय काल्पनिकता, वेदना-प्रियता, वैयक्तिकता, अत्यधिक प्रकृति-प्रेम और नई-नई शिल्प-भंगिमाओं का सन्निवेश हुआ। डा० श्रीकृष्ण लाल ने इस नवागत काव्य-प्रवृत्ति को 'कलात्मक एवं

1. चित्राधार : जयशकर प्रसाद, पृ० १८३
2. झरना : „ „ , पृ० ८६
3. वही, पृ० ६९-७०

प्रमुख हैं। कविवर 'शंकर' द्वारा प्रस्तुत 'बियोगिनी की आह' का ऊहात्मक वर्णन देखिए—

'शंकर' नदी-नद-नदीशन के नीरन की,
भाप बन अम्बर ते ऊँची चढ़ जाएगी।
दोनों ध्रुव छोरन लों पल में पिघल कर,
घूमि-घूमि धरनी धुरी लों मढ़ जाएगी।
झारेंगे अँगारे ये तरनि-तारे-तारापति,
देखना खमण्डल में आग बढ़ जाएगी।
काहू बिधि, बिधि की बनावट बचेगी नाहिं,
जो पै वा बियोगिनी की आह कढ़ जाएगी।[1]

महावीर प्रसाद द्विवेदी के कल्पना-चातुर्य को इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—

कटि इसकी न भंग हो जावे।
चलनी कहीं न यह गिर जावे।
इससे त्रिबली-बंध बनाया।
विधि ने यह चातुर्य्य दिखाया।[2]

उर्दू-फारसी-शैली वाली रंगत की मनोरंजक एवं चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', लाला भगवान दीन इत्यादि कवियों की रचनाओं में परिलक्षित होती हैं। उदाहरण के लिए हरिऔध कृत 'आँसू' का वर्णन द्रष्टव्य है—

ओस की बूँदें कमल से हैं कढ़ीं,
या उगलती बूँद हैं दो मछलियाँ।
या अनोखी गोलियाँ चाँदी मढ़ी,
खेलती हैं खंजनों की लड़कियाँ।

\+ \+

या जिगर पर जो फफोला था पड़ा,
फूट करके वह अचानक वह गया।
हाय था अरमान जो इतना बड़ा,
आज वह कुछ बूँद बनकर रह गया।[3]

1. शंकर-सर्वस्व (सम्पादक) हरिशंकर शर्मा, पृ० ३०४
2. द्विवेदी-काव्यमाला : (संग्रहकार) देवीदत्त चंद्रशुक्ल, पृ० ३७६
3 पद्य प्रमोद : अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पृ० १३५

लाला भगवानदीन की 'आँख', 'मेंहदी' तथा 'चाँदनी' शीर्षक कविताओं में मनोरंजन तथा चमत्कार की प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। कवि 'आँख' का वर्णन करते हुए लिखता है—

कहो तो कहदें आपकी आँखों को क्या समझे,
सिता सिन्दूर, मृगमद-युक्त अदभुत कुछ दवा समझे।
अगर इसको न मानो तो बनादे दूसरी उपमा
सहित हाला, हलाहल मिश्रिता सुन्दर सुधा समझो।[1]

आलोचनाकाल के अन्तिम वर्षों में लिखित सुमित्रानंदन पंत तथा जयशंकरप्रसाद की कुछ छायावादी रचनाओं में उपमानों का चयन चमत्कार की सीमा तक पहुँच गया है। उदाहरणार्थ प्रसाद के 'झरना' संग्रह की कुछ कविताओं और पंत की 'छाया' शीर्षक कविता तथा 'ग्रंथि' खण्डकाव्य के कतिपय स्थलों को लिया जा सकता है। कल्पना के सुकुमार कवि पंत 'आँसू' का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

जब अचानक अनिल की छवि में पला
एक जलकण, जलद-शिशु-सा पलक पर
आ पड़ा सुकुमारता-सा, गान-सा
चाह-सा, सुधि-सा सगुन-सा स्वप्न-सा।[2]

चमत्कार-प्रदर्शन के रूप मे प्रयुक्त कल्पना अनुभूति की शून्यता और अतिशय भावुकता के कारण जीवन और समाज से दूर चली जाती है, अतः कल्पना का यह प्रयोग कलावादी काव्य दर्शन से स्पन्दित माना जा सकता है।

उन्मुक्त एवं रमणीय कल्पना लोकोत्तर काव्य-उत्पादन करने की क्षमता से सम्पन्न होती है। विवेच्य कवि यथार्थ का परित्याग कर स्वप्नलोक (कल्पनालोक) में पलायन करते दीख पड़ते हैं। [विवेच्य कालीन काव्य की पलायनवादी प्रवृत्ति का स्वतन्त्र रूप में विवेचन आगे किया जाएगा।] वस्तुतः इन कवियों को कल्पना पवन–वेग–पूरित पंखों या दिव्य नेत्रों के वरदान के रूप में प्राप्त है, जिसके द्वारा वे अपने मनोनुकूल जगत की माधुरी – मनोहरता का खुल कर आनन्द लाभ उठाते हैं। प्रसाद ने 'चित्राधार' काव्य-संग्रह की 'कल्पना-सुख[3]' शीर्षक कविता में कल्पना के आनन्द और आह्लाद का वर्णन

1. नवीन-बीन : लाला भगवानदीन पृ० ४४
2. ग्रंथि : सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० २३
3. चित्राधार : जयशंकर प्रसाद, पृ० १४ -१४२ द्रष्टव्य

किया है । कल्पना के इसी मनोहारी रूप के कारण कवि काल्पनिक प्रेमाख्यानों की रचना की ओर उन्मुख हुए हैं । प्रसाद कृत 'प्रेम-पथिक' तथा पंत कृत 'ग्रंथि' इसी मनोरम एवं मादक स्वप्न लोक की सृष्टियाँ हैं । इन प्रेमाख्यानों में यथार्थ की कठोरता एवं रुक्षता से दूर प्रकृति का स्वप्निल—स्वर्गोपम उन्मुक्त प्रांगण प्रेमी-युगल के प्रणय की लीलास्थली बना है । श्रीधर पाठक की काश्मीर सुषमा' शीर्षक रचना में और प्रसाद एवं पंत की प्रकृति संबंधी कुछ कविताओं में भी रंगीन तथा मनोरम कल्पना का चित्रण किया गया है । उदाहरणार्थ प्रसाद की 'नीरवप्रेम' कविता में रंगीन कल्पनाविधान द्रष्टव्य है—

नवल दम्पति केलि विनोद में
जब विमोहत हैं नव मोद में ।
प्रथम भाषण ज्यों अधरान में,
रहत हैं तब गूँजत प्रान में ।
तिमि कहौ तुम हू चुप धीर सों
विमल नेह कथान गम्भीर सों ।
कुछ कहौ नहिं पै कहि जात हौ,
कुछ लहौ नहिं पै लहि जात हौ ।
कवि नियोजित सुन्दर कल्पना,
जब धरै प्रतिभा छवि अल्पना ।
जलद माल तरंगिनि धार में,
प्रविसि फूलन में कछार में ।
तरल वीचि निनादन में कढ़ै
प्रकृति के मधुराक्षर को पढ़ै ।[1]

उपरि वर्णित कल्पना अपनी रमणीयता में किंचित क्षणों तक रमाए रखने और मादकता में यथार्थ कठोरताओं से थोड़ी देर तक भुलाए रखने के अतिरिक्त जीवनोपयोगी किसी क्रियाशीलता की संजीवनी का रस प्रदान नहीं करती है, अतः इसे कलावादी अवधारणा की अनुवर्तिनी कहा जाएगा ।

प्रकृति के प्रति सच्चे अनुराग से आकर्षित कवियों ने प्रकृति को कल्पना से अनुरंजित करके देखा है और उसके विभिन्न रूपों को मानव-स्वरूप प्रदान किया है । इन कवियों में प्रकृति के प्रति यह सचेतन-भाव उनकी कल्पनाजन्य

1. चित्राधार : जयशंकरप्रसाद, पृ० १६६-१६७

तत्परता की देन माना जा सकता है। कल्पनाजन्य तत्परता से रागात्मकता की उत्पत्ति होती है। रागात्मकता से कवि का हृदय अपेक्षाकृत उदार हो जाता है और उसकी अनुभूति की परिधि भी विस्तृत होती जाती है। रागचेता कवि को सम्पूर्ण सृष्टि में—जड़ एवं अचेतन में—जीवन का आभास होने लगता है। विवेच्य कवियों ने प्रकृति के विविध दृश्यों एवं क्रियाओं में अधिकांशत: अपनी दमित वासनाओं का प्रक्षेपण करते हुए उसका मानवीकरण किया है। इन कवियों ने 'प्रकृति पटरानी' के यौवन—सौन्दर्य की मदिर-मादक छवियाँ अंकित की हैं और साधारण प्राकृतिक व्यापारों में मिलन, आलिंगन, चुम्बन इत्यादि काम—क्रियाओं की कल्पना की है। प्रकृति के मानवीकरण के ये संस्कार श्रीधर पाठक की 'काश्मीरसुषमा,' प्रसाद के खण्डकाव्य 'प्रेम-पथिक,' 'झरना' काव्य-संग्रह की 'झरना,' किरण इत्यादि कविताओं, सुमित्रानन्दन पंत की 'सरिता,' 'स्वप्न,' 'छाया' इत्यादि कविताओं, और उनके खण्डकाव्य 'ग्रन्थि' में विद्यमान हैं। कवियों द्वारा प्रस्तुत प्रकृति का यह मानवीकरण अपनी जीवन निरपेक्षता एवं निष्क्रिय रोमानियत के कारण कलावादी प्रवृत्ति का संपोषका एवं वर्धन करता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उन्मुक्त एवं रमणीय कल्पना ने अपने सभी रूपों—चमत्कार—प्रदर्शन, मनोरम एवं मादक स्वप्नलोक की सृष्टि, प्रकृति के प्रति सचेतन भाव – में यथार्थ का निराकरण करते हुए अयथार्थ एवं स्वप्न का आधार ग्रहण किया है। यह कल्पना जीवन की यथार्थता से जूझने को प्रेरित न कर क्षणिक मनोरंजन करती है अथवा थोड़ी देर के लिए सुख—स्वप्नों के छायालोक में पहुँचा देती है। अत: प्रस्तुत कल्पना—विधान को कलावाद के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

(घ) वैयक्तिक भावनाओं की प्रस्तुति

जब कवि व्यक्तिगत तीव्र सुख-दु:खात्मक अनुभूतियों की अभिव्यंजना में प्रवृत्त होता है तो समाज-निरपेक्ष व्यक्ति चिन्तन प्रधान काव्य की सर्जना संभव होती है। व्यक्तिवादी काव्य का मूल केन्द्र एकमात्र स्वयं कवि होता है—

"The point of reference in their poetry is the individual rather than society, or society seen as a collection of individuals."[1]

1. दि टास्क आफ दी रोमाण्टिक पोइट : इन दी रोमाण्टिक एसर्शन : आर.ए. फाक्स, पृ० ४२

वस्तुतः ये प्रकृति-चित्र कवियों की अपनी शृंगारी भावनाओं की सम्पूर्ति के रंगारंग आयोजन है। इस सन्दर्भ में श्रीधर पाठक की 'काश्मीर-सुषमा' निराला की 'जूही की कली' और प्रसाद के झरना' काव्य-संग्रह की प्रकृति-परक कुछ रचनाओं को लिया जा सकता है। प्रसाद कृत 'प्रेम-पथिक' और पंत कृत 'ग्रंथि' नामक खण्डकाव्यों में भी कहीं-कहीं यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

वस्तुओं एवं घटनाओं का भाव-संवलित रूप मे प्रस्तुतीकरण कवियों की विषयिनिष्ठता का एक अन्य आयाम है। व्यक्तिवादी कलाकार प्रत्येक वस्तु और घटना को आत्मरंजित करके देखने लगता है। विश्व के सुख-दुख उसके लोक-वैरागी मन को डिगा नही पाते, क्योंकि वह अपनी रामधुनि (आन्तरिक भाव) में समाधिस्थ हो रमता है। प्रसाद के 'झरना' संग्रह की झरना तथा किरण आदि कविताओं में कवि की आन्तरिक भावनाओं का अवतरण हुआ है। हृदयगत भावाधिक्य के कारण कवि को 'झरना', 'दृगजल' के रूप में प्रवाहित लगता है—

कर गई प्लावित तन-मन सारा,
एक दिन तव अपांग की धारा,
हृदय से झरना—
वह चल, जैसे दृग जल ढरना
प्रणय-वन्ध्या ने किया पसारा,
कर गयी प्लावित तन-मन सारा।[1]

वस्तु के स्थान पर आत्मानुभूतिमयी अभिव्यंजना के प्रयोग पंत की 'छाया' और निराला की 'जूही की कली' कविताओं में भी देखे जा सकते हैं।

व्यक्तिवादी कलाकार स्वयं के प्रति पूर्णतः समर्पित हो जाता है। वह अपनी आत्मलीनता में जीवन-जगत से दूरस्थ हो अपने मधु-कटु अनुभवों को स्वयं कहता-सुनता हुआ स्वयं ही आनन्द-लाभ करना चाहता है। इस आत्मलीनता की अवस्था के लक्षण जयशंकरप्रसाद तथा सुमित्रानन्दन पंत की कुछ रचनाओं में देखे जा सकते हैं। प्रसाद कृत 'प्रेम-पथिक' में पथिक स्वयं कवि ही है। इस रचना में प्रस्तुत प्रेम-दर्शन किसी और को सीख देने के लिए नही

1. झरना— जयशंकरप्रसाद, पृ० १४

प्रत्युत अपने ही मार्ग-दर्शन के लिए हैं—"पथिक ! प्रेम की राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है। घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए, प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा, तब तुम प्रियतम-स्वर्ग-विहारी होने का सुख पाओगे।"[1]

प्रेममय जीवन शान्त एवं गंभीर होता है। प्रेमी अपने प्रेम को सबके सामने प्रकट नहीं करते हैं। धैर्यवान प्रेमी ही अपने प्रेम में सफल होते हैं। यदि प्रेमियों के मन परस्पर मिलकर 'एक' हो गए हैं तो समाज उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। कवि इन प्रेमदर्शों को अपने प्रिय तथा स्वयं के लिए अनुकरणीय मानता है—

जितना चाहो शान्त बनो गंभीर हो,
खुल न पड़ो, तब जानेंगे तुम धीर हो,
रूखे ही तुम रहो, बूँद रस के झरें,
हम तुम हैं जब एक, लोग बकते फिरें।[2]

आत्मोन्मुखता की अतिशयता में कवि अपने भावों तथा विचारों को अपने ऊपर ढालकर व्यक्त करने लगता है। वह स्वनिर्मित जाल में फँसी हुई मकड़ी की भाँति अपनी ही भावानुभूतियों के व्यूह में उलझता-मुलझता रहता है। प्रसाद अपने मन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

रे मन !
न कर तू कभी दूर का प्रेम।
निष्ठुर ही रहना अच्छा है यही करेगा क्षेम।
देख न,
यह पतझड़ बसन्त एकचित मिला हुआ संसार,
किसी तरह से उदासीन ही कट जाना उपकार।
या फिर
जिसे चाह तू उसे न कर आँखों से कुछ भी दूर,
मिला रहे मन मन से, छाती छाती से भरपूर।[3]

व्यक्तिवादी कवि के मन को आत्मप्रसार की प्रबल आकांक्षा उद्वेलित करती रहती है। कवि स्वयं को किसी व्यक्ति, वस्तु, दृश्य या प्रसंग में प्रक्षिप्त कर अपने अन्तर्भावों की अभिव्यक्ति करने लगता है। 'झरना' संग्रह

1. प्रेम-पथिक—जयशंकर प्रसाद, पृ० १६
2. कानन-कुसुम ,, ,, , पृ० २७
3. झरना : ,, ,, , पृ० ८९

की 'खोलो द्वार' शीर्षक कविता में कवि स्वयं को रजनी (प्रियतमा) के रूप में प्रस्तुत करते हुए प्रियतम सूर्य से कहता है—

अब तो छोड़ नहीं सकता हूँ
पाकर प्राप्य तुम्हारा द्वार।
सुप्रभात मेरा भी होवे,
इस रजनी का दुःख अपार
मिट जावे जो तुम को देखूँ
खोलो प्रियतम, खोलो द्वार।[1]

व्यक्तिवादी कवि की व्यक्तित्व के प्रति आग्रह की प्रवृत्ति आत्म कथात्मक काव्य के रूप में अभिव्यक्त होती है। सुमित्रानन्दन पंत की 'ग्रंथि' रचना को काव्य की आत्मकलात्मक विधा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इस रचना में कवि की प्रणय कहानी अंकित हुई है। 'ग्रंथि' के संबंध में डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है—"जब तारुण्य का बालकवि उसके प्राणों को पुलकित कर रहा था, उसी समय मधुबेला भाग्य ने उसी के हृदय में एक ग्रंथि डाल दी, जिसे वह कदाचित अभी तक नहीं खोल सका है। बहुतों से सुना है कि 'ग्रंथि' पन्त जी के अपने अनुभव पर आधृत है, जिसमें उन्होंने अपनी प्रणय कहानी लिखी है।"[2]

'ग्रंथि' में "बालिका मेरी मनोरम मित्र थी" लिखकर स्वयं कवि ने भी व्यक्तिगत प्रेम-सम्बन्धों की रचना होने की उस पर स्पष्ट छाप लगादी है। वैसे भी 'ग्रंथि' अपनी रूप रेखाओं, वर्णन-संकेतों और मार्मिक गहराइयों के कारण व्यक्तिवादी—आत्म कथात्मक—कृति होने का अन्तःसाक्ष्य प्रस्तुत करती है। 'ग्रंथि' में कई स्थलों पर कवि ने अपने हृदय को सम्बोधित किया है। कवि के ये सम्बोधन उसकी आत्मोन्मुख प्रवृत्ति के परिचायक हैं—

शैवलिनि! जाओ मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल! आलिंगन करो तुम गगन का।

× × ×

पर हृदय! सब भाँति तू कंगाल है,
उठ किसी निर्जन विपिन में बैठ कर।

1. झरना : जयशंकरप्रसाद, पृ० १९
2. सुमित्रानन्दन पन्त : डा. नगेन्द्र, पृ० ८७

अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी,
भग्न भावी को डुबादे आँख सी।[1]

विवेच्य कवियों की वैयक्तिकता अपने पूर्ववर्ती मध्यकालीन कवियों क वैयक्तिकता से भिन्न रूप में प्रकट हुई है। भक्त कवियों का आत्मनिवेदन धर्म एवं भक्ति आवृत्त बना रहा तो रीतिकालीन कवियों की आत्माभिव्यक्ति 'राधिका-कन्हाई' का बानक धारण किए रही। विवेच्य कवियों ने वैयक्तिकता की सीधी, सरल और स्पष्ट अभिव्यक्तियाँ की हैं। अनुभूति की सघनता और भावात्मक सच्चाई के कारण इनकी ऐहिक वैयक्तिकता आध्यात्मिकता या अलौकिता से आभासित लगती है। वस्तुतः इन कवियों की लौकिक वैयक्तिक भावनाओं को आध्यात्मिक रंग देने का प्रयास अनौचित्य पूर्ण होगा। यह वैयक्तिता विकसित होकर परवर्ती छायावादी काव्य के अन्तर्गत अपने प्रौढ़-रूप में प्रचुरता के साथ उपस्थित हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विवेच्य कवियों की अधिकांश वैयक्तिक भावनाएँ प्रेमगत असफलता से उदभूत हैं। प्रेम की असफलता से कवियों की हृत्तंत्रियों के तार झनझना उठे हैं, जिनके मधुर-मोहन संगीत-समारोह में वे जीवन-जगत को विस्मृत कर गए हैं। अतः विवेच्य कालीन वैयक्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति को कलावाद के अन्तर्गत रखा जाएगा।

(ङ) निराशावादी दृष्टिकोण

हिन्दी साहित्य में निराशावाद का प्रयोग बहुत कुछ उसी अर्थ में किया जाता है, जिस अर्थ में अँग्रेजी में पैसीमिज्म, का होता है। जगत को दुःखपूर्ण और उसकी व्यवस्था को अपूर्ण एवं दोषयुक्त मानकर उससे उदासीन रहना अथवा पलायन करना जीवन-जगत को निराशावादी दृष्टिकोण से देखना है। निराशावाद मनुष्य की पराजित मनोवृत्ति है, जो उसे जीवन-जगत की वास्तविकताओं से दूर लेजाकर अकर्मण्य बना देती है।

राजनैतिक पराजय, आर्थिक संकट और व्यक्तिगत प्रणय की असफलता आदि कारणों से क्षुब्ध कवियों के मन-मानस अशान्त एवं चंचल हो उठे। कवियों की ऐहिक आशा-आकांक्षाएँ यथार्थ जीवन में पूर्ति का अवसर न पाकर और सामाजिक बन्धनों से बार-बार प्रताड़ित होकर अवसाद और निराशा के रंग में डूबती चली गयीं। तत्कालीन नवागत स्वच्छन्दतावादी धारणा भी निराशा-भावना के अंकुरण में सहायक सिद्ध हुई। स्वच्छन्दतावादी कलाकार

1. ग्रंथि : सुमित्रानंदन पंत, पृ० ३५

अधिक भावुक होता है। ये कवि असफलताओं-पराजयों के मूल में भावुकता-वश अपनी अक्षमताओं—दुर्बलताओं को न देखकर भाग्य और ईश्वर को कोसने लग गए और समस्त दृश्य जगत उन्हें दुःखमय दिखायी देने लगा। कवियों का निराशावादी दृष्टिकोण मुख्यतः दो रूपों में अभिव्यक्त हुआ है—

(१) दार्शनिक प्रवृत्ति के रूप में।

(२) रोमाण्टिक प्रवृत्ति के रूप में।

कवियों की दार्शनिक प्रवृत्ति का मूल अध्याय जीवन और जगत का तात्विक रूप से निषेध है। कवियों की यह निषेध भावना क्षणिकवाद, दुःख-वाद तथा नियतिवादि आदि दार्शनिक चिन्तन धाराओं से प्रेरित है।

बौद्धदर्शन में शरीर तथा संसार दोनों को क्षणिक एवं परिवर्तनशील माना गया है। विवेच्यकाल में प्रस्तुत क्षणिकवादी धारणा को बौद्ध दर्शन से प्रभावित माना जा सकता है। यह प्रवृत्ति मुकुटधर पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी तथा सत्यनारायण 'कविरत्न' आदि की रचनाओं में कहीं-कहीं देखी जा सकती है। मुकुटधर पाण्डेय शरीर की नश्वरता की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं—

मिट्टी घट सम भंगुर तनु है,
इसका कुछ न ठिकाना है।
ज्ञात नहीं इसको कुछ कैसे,
किधर कहाँ कब जाना है।[1]

शंकराचार्य का ब्रह्मवाद (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या) और बौद्धों का दुःख-वाद—ये दोनों चिन्तन संसार को असत्य, दुःखपूर्ण और मायाजाल मानकर इससे दूर रहने की शिक्षा देते हैं। ये कवि भी अद्वैत भावना, माया, ब्रह्म इत्यादि के विवेचन में अपनी दुःखवादी विचारधारा को प्रस्तुत करते हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मुकटधर पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी, सत्य-नारायण 'कविरत्न' और रामदेवीप्रसाद 'पूर्ण' आदि की रचनाएँ विविध प्रसंगों में इसी विचारधारा को संकेतित करती है।

संसार माया-रूप है। यह अपनी मोहिनीमाया से संसारी व्यक्तियों को आकर्षित कर अनेक कष्ट देता है—

यह बबूल-वन—सिन्धु-तीर पर हरी छतरियाँ छाये,
क्षिति पर शीतल छाँह बिछाकर शूल-समूह छिपाये।

1. पूजाफूल : मुकुटधर पाण्डेय, पृ० १०८

जगत की अनित्यता और मनुष्य की दुर्बलता-असमर्थता पर मात्र दैन्य-विषाद प्रकट करके रह गयी हैं, ये किसी शक्तिसम्पन्न, सर्वस्वतन्त्र एवं शास्वत जीवन की कल्पना का साहस नहीं कर सकी हैं, अतः इन्हें कलावादी कोटि में रखा जा सकता है ।

आधुनिक कवियों ने अपनी प्रणयजन्य निराशा-भावनाओं की अत्यन्त रोमाण्टिक अभिव्यक्तियाँ की हैं। इन प्रणय जन्य निराशा भावनाओं को अनुभूति निरूपक निराशावादी प्रवृत्ति के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है । ये अपने प्रिय के प्रेम में अनुरक्त होकर सुखद स्वप्न सँजोते हैं। जीवन-संघर्ष के थपेड़ों से इनके सौन्दर्योल्लास एवं प्रमोन्माद हलके पड़ जाते हैं अथवा छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। ये निराशा और वेदना को प्रणय-सुख की अनिवार्य परिणति मानकर इनकी एकान्त साधना करने लग जाते हैं। कभी-कभी अपने प्रिय को द्रवित करने के लिए ये कवि तनिक सी पीड़ा को पहाड़ बनाकर कहने में रस लेने लगे हैं। वस्तुतः आधुनिक कवियों की व्यथा-कथा उनके मन की वास्तविकता और सच्चाई न होकर बहुत कुछ कल्पना-प्रसूत है । इस प्रकार ये कवि तफरीह में भी निराशावादी बन गए हैं।

प्रेम की असफलता ने प्रेमी कवियों के मन-मानस को वेदना और खिन्नता से भर दिया है। कवियों ने प्रेम को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा है और उसके अनिर्वचनीय कपटप्रद स्वरूप का उद्घाटन किया है। प्रेम-पद कष्टों और प्रेम-जन्य वेदनाभूतियों की मार्मिक अभिव्यक्तियाँ प्रसाद के 'प्रेम-पथिक' 'झरना' ('झरना', 'किरण', 'सुधा में गरल' कविताएँ) और पंत की' ग्रंथि' मे देखी जा सकती हैं। प्रसाद ने प्रेम-पथ को कण्टकाकीर्ण[1] और 'परदेशी की प्रीति' को 'नाहर-नख से हृदय लड़ाना'[2] समझ कर प्रेम न करना ही श्रेयस्कर[3] माना है। असफल प्रेमी प्रेम-वेदना से पूर्ति हृदय होकर सम्पूर्ण सृष्टि के वेदनामय होने की कल्पना करने लगता है । प्रसाद ने किरण को 'वेदना-दूती[4] और 'झरना' को 'दृगजल'[5] के रूप में चित्रित किया है। कवि अपने प्रेम को मिलन, आलिंगन इत्यादि से विहीन देखकर अश्रु बहाने लगता है। निम्नांकित पंक्तियों में वियोगजनित निराशा और वेदना की मर्मस्पर्शी प्रस्तुति हुई है—

1. प्रेम-पथिक : जयशंकरप्रसाद, पृ० १६
2. झरना : ,, , पृ० ८६
3. वही, पृ० ८६
4. वही, पृ० २६
5. वही, पृ० १४

शैवलिनि ! जाओ मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन का,
चन्द्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उड्गणो ! गाओ पवन-वीणा बजा,
पर, हृदय ! सब भाँति तू कंगाल है ।[1]

जब प्रेमी को प्रिय के प्रेम की प्राप्ति नहीं हो पाती है, तो वह निराश होकर प्रेम के कतिपय आदर्श गढ़ लेता है, जैसे—प्रेम में प्रतिदान की इच्छा नहीं होनी चाहिए, प्रिय की निष्ठुरता आदि को लेकर उसे उपालम्भ नहीं देना चाहिए, प्रेम की पराजय को भी जय (जीत) समझना चाहिए इत्यादि। प्रेम के आदर्श रोमाण्टिक एवं काल्पनिक होते हैं, जो प्रेमी कवि के रोग का वास्तविक उपचार न कर उसके मन को बहलाते भर हैं । गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', जयशंकर प्रसाद और सुमित्रानन्दन पन्त आदि के काव्य में प्रेम के आदर्शों की आवृत्ति हुई है । गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' के निम्नांकित सवैया में प्रिय को उपालम्भ (शिकवा-शिकाययत) न देने की प्रवृत्ति देखी जा-सकती है—

वह बेपरवाह बने तो बने, हमको इसकी परवाह का है,
वह प्रीति का तोड़ना जानते हैं, ढंग जाना हमारा निबाह का है,
कुछ नाज़ ज़फा पर है उनको तो, भरोसा हमें बड़ा आह का है,
उन्हें मान है चन्द्र से आनन पै, अभिमान हमें भी तो चाह का है ।[2]

प्रसाद के 'झरना' की कुछ प्रेमपरक रचनाओं में प्रेमादर्शों के गढ़ने की प्रवृत्ति पायी जाती है । स्वयं दुःख सहते हुए प्रिय के सुख-कल्याण की कामना करना—यह आदर्श प्रेम का एक लक्षण है । इस आदर्श प्रेम की अभिव्यक्ति इन पंक्तियों में हुई है—

तुम रहो शीतल हमें जलने दो,
तमाशा देखो, हाथ मलने दो ।[3]

कविवर पंत प्रेम की असफलता और प्रेमजन्य वेदना के लिए समाज या प्रिय को दोषी नहीं मानते हैं । वे वेदना, पीड़ा, व्याकुलता तथा अश्रु-प्रवाह आदि को प्रेम-विश्व के अनिवार्य नियम मानते हैं—

1. ग्रन्थि : सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० ३५
2. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास : डा. श्रीकृष्णलाल, पृ० ६५
3. झरना : जयशंकरप्रसाद, पृ० ८५

कौन दोषी है ? यही तो न्याय है
वह मधुप बिंधकर तड़फता है, उधर
दग्ध चातक तरसता है, विश्व का
नियम है यह रो अभागे हृदय रो ।[1]

रोमाण्टिक निराशावादी कवि वेदना में सुख एवं आनन्द की अनुभूति करता है, अतः उसे वेदना अत्यन्त प्रिय लगने लगती है। जयशंकरप्रसाद की 'प्रेम-पथिक' झरना' और सुमित्रानन्दन पन्त की 'ग्रन्थि' आदि छायावादी रचनाओं में वेदना-प्रियता की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। प्रसाद के 'झरना' संग्रह की कुछ कविताओं में यह प्रवृत्ति आत्मपीड़न-सुख[2] के रूप में प्रस्तुत हुई है। वेदना-प्रियता के कारण पंत विश्व को वेदना के मनोहर[3] रूप में देखते हैं और अश्रु इतने मनोहर[4] लगने लगे हैं कि वे प्रिय की 'सजल सुधि में मग्न'[5] होजाने की कामना करने लगे हैं।

हिन्दी के रीतिमुक्त कवि अपने अन्तर्मन की सरल-सहज रागात्मक संवेदनाओं के स्वच्छन्द गायक थे। उन कवियों की निराशा **'प्रेम की पीर'** से उपजी हुई 'मौन मधि पुकार' थी, जिसमें अनुभूति की सच्चाई एवं गहराई बिना किसी लाग-लपेट के ध्वनित है। आधुनिक कवियों की निराशा-भावना में कल्पना-योग के कारण निष्फल भावुकता और कृत्रिमता आगई है। इन कवियों की निराशा भावना वैयक्तिकता और समाज-निरपेक्षता के कारण कलावादी धारणा का संपोषण करती है। परवर्ती छायावादी कविता में निराशावादी प्रवृत्ति का प्रस्तुतीकरण प्रचुर मात्रा में दिखायी पड़ा, और वहाँ कल्पना, दर्शन और रहस्य के आवरण कुछ अधिक ही होगए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आधुनिक कवियों ने जीवन और जगत को नश्वर एवं दुःखों का मूल मानकर उनके प्रति अपने निषेधात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। इन कवियों का व्यक्तिगत प्रेम की असफलता से उद्भूत प्रेमदर्शन भी मात्र निराशा-विलास है। अतः रुग्ण दार्शनिक चिन्तन, काल्पनिकता तथा रोमाण्टिकता के कारण यह निराशावादी दृष्टिकोण कलावाद का समीपवर्ती माना जा सकता है।

1. ग्रंथि : सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० ४१
2. झरना : जयशंकर प्रसाद, पृ० ४४ तथा ८५
3. ग्रंथि : सुमित्रानन्दन पंत : पृ० ४६
4. वही, पृ० ४०
5. वहीं, पृ० ५

(च) पलायनवादिता

संघर्षपूर्ण जगत-जीवन की यथार्थता, कठोरता एवं नीरसता से दूर अयथार्थ एवं काल्पनिक लोक में विश्रान्ति, विश्राम एवं आनन्द-लाभ की उत्कट लालसा से उत्पन्न मानसिकता ही पलायनवृत्ति है। यह मनोवृत्ति कवि के पराजित एवं अकर्मण्य बना देती है। आधुनिक काव्य में पलायनवादी प्रवृत्ति के उद्भव एवं विकास में सामयिक परिस्थितियों एवं प्रभावों की प्रमुख भूमिका रही है। आशा निराशा पूर्ण राजनैतिक वातावरण, आर्थिक शोषण और सामाजिक जीवन की हेयता आदि के कारण काव्य में कल्पना-शीलता और पलायनवादिता का सन्निवेश हुआ। अँग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से अवतरित वैयक्तिकता एवं प्रकृति प्रियता आदि स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों ने पलायनवाद के विकास में सहयोग प्रदान किया। अस्तु, विवेच्यकाव्य में पलायनवाद की अभिव्यक्ति मुख्यत: दो रूपों में दृष्टिगोचर होती है—

(१) प्रकृति की ओर प्रत्यागमन के रूप में।

(२) रहस्यात्मक रूप में।

आधुनिक कवियों का प्रकृति की ओर प्रत्यागमन उनके प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति प्रबल आकर्षण तथा प्रगाढ़ प्रेम का प्रतीक माना जा सकता है। सामाजिक जीवन की कठोरता से कवियों के मन इतने आहत होगए हैं कि वे सब कुछ छोड़कर प्रकृति की मनोरमता में खो जाना चाहते हैं। पलायनवादिता की यह प्रवृत्ति रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकर प्रसाद और सुमित्रानन्दन पन्त आदि की रचनाओं में दृष्टिगोचर होती है। समाज की संकुचित सीमाएँ कवियों के स्वच्छन्द-विहार-कामी मन के अनुकूल नहीं पड़ती हैं जबकि प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में उन्हें वैसा करने के लिए पर्याप्त अवकाश मिल जाता है। अत: कवि—एकबार मनोरम एवं शीतल प्रकृति अंचल को प्राप्त कर लेने पर फिर जनाकुल समाज की ओर प्रत्यागमन नहीं चाहते हैं—

नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में विचरूँ यही चाहता मन है।

× × ×

जाना नहीं चाहता हूँ मैं क्षण भर को भी जग में।
चलता रहूँ यही इच्छा है सदा प्रेम के मग में।
यह इच्छा है नदी और नालों का वेष धरूँगा।
गाता हुआ गीत मस्ती से पर्वत से उतरूँगा।[1]

1. पथिक : रामनरेश त्रिपाठी. पृ० १५

प्रसाद के 'प्रेमपथिक' और पंत के 'ग्रन्थि' प्रेमाख्यानों की प्रेम-कथाएँ मुक्त एवं एकान्त प्रकृति-प्रदेश में ही चलती हैं। 'प्रेमपथिक' की चमेली प्रकृति के स्नेहांचल में ही पलकर बड़ी हुई है—उस नैसर्गिक सुरभिपूर्ण उस रूपवती का क्या कहना, जिसे कि प्रकृति मालिनी बनकर अपने हाथ सजाती है।[1] 'प्रेमपथिक' के किशोर के चरित्र-निर्माण में भी प्रकृति का विशेष योग रहा है।[2] 'ग्रन्थि' का नायक अपनी नौका सहित डूब जाता है, जिसे एक बालिका बचा लेती है। यह 'डूबना' जीवन-संग्राम में पराजित हुए भीरु मन प्रकृति की ओर पलायन ही है। इतना ही नहीं नायक कवि का मन सूरदास के जहाज के पंछी की भाँति पुनः एकान्त-वास का ही आश्रय चाहता है—

पर हृदय ! सब भाँति तू कंगाल है,
उठ किसी निर्जन विपिन में बैठकर,
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी,
भग्न भावी को डुबादे आँख सी।[3]

परोक्षसत्ता से संबंध स्थापित करने की प्रवृत्ति ही रहस्यवाद है। रहस्यवादी भावधारा का मूल आधार ब्रह्म की अनुभूति और अन्तिम लक्ष्य साधक का साध्य (ब्रह्म या परमसत्ता) में एकाकार हो जाना है। इस प्रकार यह रहस्यबोध दृश्यमान एवं यथार्थ समाज से दूर अव्यक्त, कल्पना, दर्शन तथा स्वप्न के लीला-लोकों के अन्तर्दर्शन का विलास है। यह बोध कलावादी बोध माना जा सकता है, जिसकी सामाजिक उपदेयता आद्यन्त संदिग्ध है। आधुनिक कवि प्रकृति-साहचर्य और रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर इत्यादि के आध्यात्मिक विचारों के प्रभाव के कारण आध्यात्मिक-रहस्यात्मक भावनाओं की अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर हुए हैं। कवियों की रहस्य-भावनाएँ मुख्यतः दो रूपों—प्रकृति परक रूप तथा भक्तिपरक रूप में प्रस्तुत हुई हैं। प्रकृति परक रूप का आधार अमित छवि-मयी अनन्त प्रकृति है, जिसके विविध रूपों और क्रिया-व्यापारों में ब्रह्म विषयक जिज्ञासा, मिलन इच्छा, सर्वव्यापकता अनेक रूपता इत्यादि भावों का प्रक्षेपण है। इस सन्दर्भ में जयशंकर प्रसाद कृत 'चित्राधार' तथा 'झरना' की कतिपय रचनाओं, सुमित्रानन्दन पंत की छाया (१९२० ई०), 'प्रथम रश्मि' (१९१८ ई०), 'किरण के प्रति' (१९१८ ई०) शीर्षक कविताओं और

1. प्रेमपथिक : जयशंकर प्रसाद, पृ० २
2. वही, पृ० १४
3. ग्रंथि : सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० ३५

रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न' खण्डकाव्य के कुछ वर्णन-स्थलों को रखा जा सकता है। प्रसाद ने 'चित्राधार' में प्रभात कुसुम[1] और संध्यातारा[2] को सम्बोधित करते हुए अनेक जिज्ञासा मूलक प्रश्न किए हैं। कवि के 'झरना' संग्रह की 'झरना' तथा 'किरण' कविताओं में भी यही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। 'छाया' को देखकर पंत के मानस-पटल पर कितनी ही जिज्ञासा-रेखाएँ अंकित हो जाती हैं।[3] रामरेश त्रिपाठी कृति 'स्वप्न' के निम्नांकित अवतरण मे जिज्ञासा एवं मिलनेच्छ गर्भित रहस्य-माधुर्य की प्रस्तुति हुई है —

है वह कौन रूप का आकर जिसके मुख की कांति मनोहर,
देखा करती है सागर की व्यग्र तरंगें उचक-उचक कर।
घन में किस प्रियतम से चपला करती है विनोद हँस-हँस कर,
किसके लिए उषा उठती है प्रतिदिन कर शृंगार मनोहर।[4]

भक्तिपरक रहस्यवाद के अन्तर्गत अद्वैत भावना चराचर में अव्यक्तसत्ता के दर्शन, आत्मसमर्पण इत्यादि प्रवृत्तियों का वर्णन हुआ है। कवियों की धार्मिक भावना विश्वप्रेम एवं जनसेवा के तीर्थ स्थलों की यात्रा करती हुई रहस्य के मुक्ताकाश में स्थित होगई है। इस रहस्य-भावना पर रवीन्द्रनाथ टैगौर की 'गीतांज्जलि' का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। टैगोर की 'गीता-ज्जलि' की भक्तिपरक रहस्यभावना की अनुभूतिमयी दिव्यरति का आलम्बन अलौकिक एवं अरूप है। विवेच्य काल के अन्तिम चरण में लिखे गए गीतों और मुक्तक कविताओं की भावातिशयता में इसी रहस्यवादी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। प्रसाद के 'झरना' काव्यसंग्रह की विन्दु, तुम रत्न, खोलोद्वार पाईबाग, श्रीधर पाठक की 'जगत-सचाई-सार' और मैथिली शरण गुप्त की यात्री (१९१७ ई०), दूती(१९१८ ई०) खेल (१९१८ ई०) स्वयंमागत (१९१८ ई०) इत्यादि रचनाओं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। कवि प्रसाद उस अव्यक्त सत्ता की सर्वव्यापकता का वर्णन इस प्रकार करते हैं —

मस्जिद पगोड़ा, जिसको बनाया तूने,
सब भक्ति - भावना के छोटे-बड़े नमूने।
सुन्दर वितान जैसा आकाश भी तना है,
तेरा अनन्त मन्दिर यह विश्व ही बना है।[5]

1. चित्राधार : जयशंकर प्रसाद, पृ० १५२
2. वही, पृ० १६०
3. पल्लवविनी : सुमित्रानन्दन पंत, 'छाया', पृ० १२०
4. स्वप्न : रामनरेश त्रिपाठी, सर्ग २, पृ० २३
5. चित्राधार : जयशंकर प्रसाद, पृ० ५२

गुप्त जी की 'स्वयमागत' कविता की निम्नांकित पंक्तियों में रहस्यात्मक संकेत हैं—

> तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
> किससे होकर आऊँ मैं।
> सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है,
> कैसे भीतर जाऊँ मैं।
> कुटी खोल भीतर आता हूँ,
> तो वैसा ही रह जाता हूँ।
> तुमको यह कहते पाता हूँ,
> 'अतिथि' कहो क्या लाऊँ मैं।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कवि असीम, अव्यक्त और चिरन्तन प्रियतम की चर्चा करते हुए स्वयं के साथ समाज को भी संघर्षों—समस्याओं से हटकर काल्पनिक क्षितिजों पर लेजाकर भुलावे में डालते हैं। यह रहस्य-बोध जीवनोपयोगी सक्रियता से शून्य तथा प्रगतिशीलता विरोधी अपने प्रति-गामी रुख के कारण कलावाद का संपोषक माना जा सकता है। इस प्रकार प्रकृति की ओर उन्मुखता तथा रहस्यात्मकता के ये दोनों ही बिन्दु कलावादी साहित्य की सृष्टि के कारकतत्त्व सिद्ध होते हैं।

(ज) शुद्ध प्रकृतिवर्णन

प्रकृति अनादि काल से अपने नित्य नवीन अनन्त सौन्दर्य से कवियों के मानस को प्रफुल्लित करती आरही है। उदारमना प्रकृति की सौन्दर्य-विभूति बिना किसी भेदभाव के प्राणि मात्र को उपकृत करती रहती है। कवियों ने इसके सर्व भूत सुखाय मुक्त कोश से अपनी अन्तः प्रकृति के अनुसार रस-सामग्री ग्रहण की है। काव्य के अन्तर्गत प्रकृति का यह ग्रहण अथवा प्रकृति-बोध कई रूपों में द्रष्टिगोचर होता है। इस प्रकृति-बोध के प्रमुख रूप ये हैं—

(१) आलंबन (शुद्ध) रूप।
(२) उद्दीपन रूप।
(३) मानवीकरण रूप।
(४) अलंकरण रूप।
(५) रहस्यात्मक रूप।

1. सरस्वती, खण्ड १९, संख्या ५, १९१८ ई०

(६) उपदेशात्मक रूप ।

(७) पृष्ठ भूमि निर्माण-रूप, इत्यादि ।

संस्कृत काव्य-साहित्य में आदिकवि वाल्मीकि, कालिदास, बाणभट्ट और भवभूति आदि कवियों के काव्य में प्रकृति विविध रमणीय रूपों में प्रस्तुत हुई है । हिन्दी साहित्य के आदिकाल में प्रकृति-वर्णन प्रायः उद्दीपन एवं उपमान के रूप में हुआ । भक्तिकाल में अधिकांश भक्त एवं संत कवियों ने अपनी भक्ति-भावना का योग करते हुए उसे माया रूप में ग्रहण किया । जायसी आदि कवियों में प्रकृति के प्रति रोमाण्टिक चेतना परिलक्षित होती है । रीतिकालीन काव्य में प्रकृति उपमान एवं उद्दीपन रूप में प्रयुक्त हुई । आधुनिक काल के भारतेन्दु-युग के कवियों में एक नवीन रोमानी आकर्षण दृष्टिगोचर होता है; किन्तु "प्रकृति की अनन्त रूपता के साथ उनके हृदय का सामंजस्य नहीं हो पाया ।"[1] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'प्रातः समीर' और ठाकुर जगमोहनसिंह ने 'स्वच्छन्द प्रकृति-चित्रों' के द्वारा जिस सच्ची एवं सहज रोमाण्टिकता (True Romaticism) का आभास दिया था, उसे आलोच्य काल के श्रीधर पाठक, रामनरेशत्रिपाठी तथा रूपनारायण पाण्डेय आदि कवियों ने सुसपन्न एवं विकसित किया ।

आलोच्य काव्य की कलावादी भूमिका के विवेचन में प्रकृति के शुद्ध रूप (आलंबन रूप) के अतिरिक्त अन्य प्रायः सभी रूपों का समाहार हो गया है । अब प्रकृति के इस शुद्ध रूप (स्वतन्त्र, आलंबन या यथातथ्य रूप) की कलावादी भूमिका को प्रस्तुत किया जाएगा ।

प्रकृति के अनन्त-उन्मुक्त दृश्यमान रूप का सम्मोहन ही कवि को उसके शुद्ध रूप-वर्णन के लिए उत्प्रेरित करता है । आलंबन-रूप में प्रकृति कवि की अन्तः सत्ता पर व्यापक एवं गंभीर प्रभाव स्थापित कर लेती है और उसके सभी रूप दृश्य क्रिया इत्यादि कवि के भाव के स्वतन्त्र आलम्बन हो जाते हैं । कवि अपनी हृदयगत छायाओं का आवरण डाले बिना ही प्रकृति को यथावत् रूप में ग्रहण कर उसके शुद्ध-स्वतन्त्र-अंकन में प्रवृत्त होता है । प्रकृति के इस विशुद्ध रूपांकन में समाजोपयोगी किसी विचारधारा एवं सन्देश आदि का संयोजन नहीं होता है । क्षणिक मनोविनोद एवं अस्थायी आनन्द प्रदान करना ही इस प्रकृति-रूप की परिसीमा है । अतः यह निरुद्देश्य प्रकृति-वर्णन कला-वादी अवधारणा का अंगरूप माना जा सकता है ।

1. हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ५६५

शुद्ध प्रकृतिवर्णन मुख्यत: दो रूपों—प्रकृति के प्रति कवि के उन्मुक्त प्रेमभाव की व्यंजना और दृश्य-चित्रण—में उपलब्ध होता है। दृश्य-चित्रण में कवि की प्रकृति-प्रेम-भावना भी अन्तर्निहित रहती है। प्रकृति का दृश्य-चित्रण रूप-विस्तार गति-विधि-अंकन नाद-व्यंजना, मंधसंवेदना तथा स्पर्श-संवेदना आदि रूपों में किया जाता है।

आधुनिक काल में मानव की अनादि सहचरी प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति कवियों का अत्यधिक आकर्षण दिखाई देता है। कवियों का प्रकृति विन्यास संस्कृत तथा अँग्रेजी के कवियों से अत्यधिक प्रभावित हुआ है। प्रकृति का शुद्ध रूप (आलंबन) में वर्णन करने वाले आधुनिक कवियों में बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' लोचन प्रसाद पाण्डेय, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, सत्यनारायण कविरत्न, रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध तथा जयशंकर प्रसाद आदि हैं।

'प्रेमघन' के काव्य ग्रन्थ 'जीर्ण जनपद' में विभिन्न ऋतुओं की दृश्यावली तथा जनपद श्री (गाँवों की प्रकृति-शोभा) के वर्णनों में प्रकृति के आलंवन रूप का वर्णन हुआ है। कवि की इस रचना पर गोल्डस्मिथ के 'दि डेज़र्टेड विलेज' का प्रभाव है। ग्राम-श्री का आलंबन रूप में प्रस्तुतीकरण द्रष्टव्य है—

झिल्ली गन को सोर रोर चातक चहुँ ओरन।
मुनि सखीन संग सबै नवेली झूलत झूलन।
गावत झूलन सावन कजरी राग मलारहिं।
करहिं परस्पर चुहुल नवल चोंचले बघारहिं।[1]

श्रीधर पाठक के प्रकृति-चित्रण पर कालिदास और अँग्रेजी के गोल्ड स्मिथ, टॉमसन, बायरन आदि कवियों का प्रभाव परिलक्षित होता है। पाठक के मन में प्रकृति के प्रति सहज एवं निश्छल अनुराग था। कवि के इस प्रकृति-बोध ने हिन्दी की कविता को एक नवीन धरातल प्रदान किया। श्रीधर पाठक की मनोविनोद भारतगीत, वनाष्टक, काश्मीर-सुषमा और देहरादून आदि काव्य-रचनाओं में प्रकृति के शुद्ध-वर्णन की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। कवि की प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तन को देखने की दृष्टि विशेष प्रशंसनीय है। तन्मयता मनोहरता चित्रात्मकता इत्यादि कवि के प्रकृति-वर्णन की अन्य विशेषताएँ हैं। कवि ने अपनी 'हेमन्त' शीर्षक रचना में हिमपात का चित्रोपम वर्णन किया है—

1. प्रेमघन सर्वस्व (हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग), पृ० ४०

घर पर दीवारों पर, वन के पेड़ पर
खेतों में बागों में उनकी मेड़ पर
जमकर धरती वहाँ अनेकों आकृती
दृश्य बनाती विविध विलक्षण प्राकृती ।[1]

समास-भाषा में 'भारत-धरनि' की प्रकृतिश्री का वर्णन देखिए—

सेत हिमगिरि, सुपथ, सुरसरि तेज-ताप-मय तरनि,
सरित-वन-कृषि-भरित-भुवि-छवि-सरस-कवि-मति हरनि ।[2]

श्रीधर पाठक ने 'काश्मीर सुषमा' में नवीन-ढंग का प्रकृति-वर्णन करके आधुनिक हिन्दी कविता को विशिष्ट दिशा प्रदान की । 'काश्मीर-सुषमा' की प्रकृति-वर्णन-शैली पर बायरन तथा टामसन का प्रभाव है । यह रचना कवि के प्रकृति के प्रति सच्चे अनुराग तथा आकर्षण से अनुप्राणित है—

धन्य नगर श्रीनगर वितस्ता कूलनि सोहै,
पुलिन मौन प्रतिबिम्ब सलिल सोभा मन मोहै ।
लसत कदल पुल सप्त चपल नौकागन डोलैं,
रूपरासि नरनारि बारि-बिच करत कलोलैं ।
थेर गढ़ी नृप - भौन सरित-तट सोहत सुन्दर,
विज्जु दीप द्युति निरखि स्वर्गपुरि दुरत पुरन्दर ।[3]

प्रकृति के आलंबन-रूप में मनोहारी वर्णन की दृष्टि से कवि की वनाष्टक तथा 'देहरादून' शीर्षक काव्य-रचनाएँ भी उल्लेख्य हैं ।

रामनरेश त्रिपाठी स्वच्छ प्रकृति-चेतना के कवि हैं । उनके काव्य में प्रकृति के अनेक स्वच्छन्द चित्र अंकित हुए हैं, जिनमें यथार्थता, तल्लीनता तथा सूक्ष्मदर्शिता पायी जाती हैं । त्रिपाठी जी के पथिक, मिलन और 'स्वप्न' खण्डकाव्यों में यत्र-तत्र प्रकृति का शुद्धरूप में आवर्तन हुआ है । कवि के 'पथिक' से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

छूता हुआ गाँव की सीमा अति निर्मल जलवाला ।
बहता है अविराम निरन्तर कल-कल स्वर से नाला ।
अनति दूर पर हरियाली से लदी खड़ी गिरिमाला ।
किन्तु नहीं इनसे हृदयों में है आनन्द उजाला ।

× × ×

1. मनोविनोद (भाग-२) श्रीधर पाठक, हेमन्त, पृ० ३४
2. भारत गीत : ,, ,, पृ० २१
3. काश्मीर सुषमा : ,, ,, पृ० ३

सुन्दर सर है, लहर मनोरथ-सी उठकर मिट जाती।
तट पर है कदम्ब की विस्तृत छाया सुखद सुहाती।
लटक रहे हैं धवल सुगंधित कंदुक से फल फूले।
गूँज रहे हैं अलि पीकर मकरन्द मोद में भूले।[1]

सत्यनारायण 'कविरत्न' प्रकृति-सौन्दर्य पर सहज भाव से रीझनेवाले कवि हैं। 'कविरत्न' के प्रकृति-वर्णन पर कालिदास भवभूति, टेनीसन, स्कॉट आदि कवियों का प्रभाव पड़ा है। आपके काव्य में प्रकृति के दोनों रूपों—कोमल तथा कठोर—की प्रस्तुति हुई है। प्रकृति के कोमल रूप का एक चित्र देखिए—

हरी घास सों घिरे तुंग टीले नभ चुम्बत।
तिन में सीधी सरल सरग दिसि डगर उलम्बत।
जब सों बहरैं लहरैं छहरैं तेरी सुमुदित।
बिन कारण नहिं ज्ञात आप आपहिं सौं प्रमुदित।[2]

कवि की 'ग्रीष्म गरिमा[3] शीर्षक कविता में प्रकृति के भयंकर एवं प्रचण्ड रूप का वर्णन है।

रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' प्रकृति-वर्णनों में लोक-जीवन को रूपायित करने वाले सहृदय कवि हैं। ग्रामीण जीवन तथा ग्राम-श्री 'पूर्ण' की लेखनी का संस्पर्श प्राप्त कर सप्राण हो उठे हैं। लोकगंध से सुरभित रसीली-सुखदायी वर्षाऋतु का वर्णन इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—

आई बरसात की रंसीली सुखदायी ऋतु,
छित पै चहूँधा सरसात सुघराई है।
साजे बर बसन अभूसन सकल अंग,
झूलत हिंडोरे तरुनी — समुदायी है।[4]

लता की मोहकता का वर्णन करते हुए 'पूर्ण' लिखते हैं—

लोनी-लतिका-कलित-ललित फल-वलित लेत मन मोहै।[5]

कहीं-कहीं कवि ने प्रकृति के स्वतन्त्र एवं विशुद्ध रूप का वर्णन करने के लिए नामपरिगणन प्रणाली का आश्रय लिया है।[6] ऐसे वर्णनों में कवि की

1. पथिक : रामनरेश त्रिपाठी, सर्ग ३
2. हृदयतरंग : सत्यनारायण 'कविरत्न', वसन्त स्वागत, पृ० ६८
3. वही, पृ० ६८
4. पूर्ण संग्रह (संकलनकर्ता) लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी, पृ० १०७
5. वही, पृ० १२२
6. वही, पृ० ६७-६८ तथा १०८

दृष्टि सौन्दर्य-बोध की अपेक्षा प्रकृति के प्रसार-विस्तार को अधिकाधिक रूप में समेट लेने के लिए आतुर रही है।

महाकवि 'हरिऔध' ने प्रकृति के उद्दीपन रूप का अधिक चित्रण किया है, किन्तु उनके पृष्ठ भूमि-निर्माण तथा नामपरिगणन में प्रकृति का स्वतन्त्र (विशुद्ध) रूप भी मिलता है। 'हरिऔध' के मन में प्रकृति के प्रति अत्यधिक अनुराग है। कवि के महाकाव्य 'प्रिय प्रवास' के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, पचम तथा त्रयोदश सर्ग प्रकृति-वर्णन से प्रारंभ होते हैं। प्रथम सर्ग के प्रारंभ में कवि प्रकृति का इतिवृत्तात्मक वर्णन करते हुए लिखता है—

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला,
तरुशिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।[1]

कवि की नाम परिगणन-प्रणाली में अनुभूति तथा रसात्मकता की कमी पायी जाती है; यहाँ कवि वृक्षों की नामावलि प्रस्तुत करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है—

जम्बू अम्ब कदम्ब निम्ब फलसा जम्बीर औ आँवला।
लीची दाड़िम नारिकेल इमली औ' शिंशपा इंगुदी।
नारंगी अमरूद बिल्व बदरी सागौन शालादि भी।
श्रेणी बद्ध तमाल ताल कदली औ' शाल्मली थे खड़े।[2]

प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से 'प्रिय प्रवास' का नवम सर्ग अधिक समृद्ध है। यहाँ कवि ने प्रकृति के चमत्कार-पूर्ण वर्णन किए हैं, जिनमें सूक्ष्मदर्शिता, भावुकता तथा कल्पना का योग स्पष्ट झलकता है। कथन की पुष्टि के लिए नवम सर्ग से दो उद्धरण प्रस्तुत किए जाते हैं—

(१) नाना निर्झर हो प्रसूत गिरि के संसिक्त उत्संग से।
हो-हो शब्दित थे सवेग गिरते अत्यन्त सौन्दर्य से।
जो छींटे उड़तीं अनन्त पथ में थीं दृष्टि को मोहतीं।
शोभा थी अति ही अपूर्व उनके उत्थान की, पात की।
प्यारा था शुचि था प्रवाह उनका सद्वारि सम्पन्न हो।
जो प्रायः बहता विचित्र गति से गम्य स्थलों मध्य था।[3]

1. प्रियप्रवास : अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पृ० २
2. वही, छंद २५
3. वही, छंद १७-१८

(२) अश्वेत ऊदे अरुणाभ, बैंगनी। हरे अबीरी सित पीत संदली।
विचित्रवेशी बहु अन्यवर्ण के। विहंग से थी, लसिता वनस्थली।[1]

प्रसाद के दृश्य-चित्रण में सूक्ष्म निरीक्षण की प्रवृत्ति प्रारंभ से अन्त तक विद्यमान रही है। प्रकृति-चित्रण में कवि की भावानुकूल सानुप्रास शब्द-योजना मूल भावनी का प्रभावशाली संवेदना उत्पन्न करती है। कवि का 'प्रेम पथिक' प्रकृति-साधना का मनोरम काव्य है। 'प्रेम पथिक' में कई स्थलों पर प्रकृति के यथातथ्य परक चित्र अंकित हुए हैं—

सुन्दर कुटिया वह कैसी है रम्य तटी में सरिता के,
शान्त तपस्वी सी वल्लरियों के झुरमुट से घिरी हुई।
फैल रहे थे कोमल वीरुध हरे-हरे तृण चारों ओर,
जैसे किसी दुर्ग की खाई में यामल जल भरा हुआ।
स्वच्छ मार्ग था रुका जहाँ था हरी मालती का तोरण,
घिरी वहाँ थी नई चमेली की टट्टी प्राकार बनी।
कानन के पत्तों, कोमल तिनकों की उस पर छाया थी,
मृगछाला कौशेय, कमण्डल वल्कल से ही सजी रही।
शान्त निवास बनी थी कुटिया और रहा जिसके आगे,
नवल मालती कुंज बना दालान, अनोखे सज-धज का।[2]

प्रसाद के 'चित्राधार' की अयोध्या का उद्धार, वनमिलन, प्रेमराज्य, प्रभात, रजनी, चन्द्र, शरदपूर्णिमा और 'कानन कुसुम' काव्य-संग्रह की ग्रीष्म का मध्याह्न, जलविहारिणी, दलित कुमुदिनी, चित्रकूट इत्यादि कविताओं में प्रकृति का शुद्ध रूप में अंकन हुआ है। 'चित्रकूट' कविता से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

सोते अभी खग-वृन्द थे निज नीड़ में आराम से,
ऊषा अभी निकली नहीं थी रविकरोज्ज्वल-दाम से,
केवल टहनियाँ उच्च तरु गण की कभी हिलती रहीं,
मलयज पवन से विवश आपस में कभी मिलती रहीं।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रायः सभी कवियों के मन-मानस प्रकृति-प्रेम से तरंगायित है। आधुनिक कवियों ने प्रकृति को स्वतन्त्र रूप में ग्रहण

1. प्रियप्रवास : अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'; छंद ६१
2. प्रसाद ग्रन्थावली (खण्ड-१) सं० रत्नशंकरप्रसाद, प्रेम-पथिक, पृ० ८८-८६
2. वही, कानन कुसुम (चित्रकूट), पृ० २११

करके अपनी कलावादी चेतना का परिचय दिया है। प्रकृति का यह स्वतन्त्र अस्तित्व क्रमशः लुप्त होता जाता है और छायावादी काव्य में वह मात्र छाया के रूप में शेष रह जाता है, जिसका पूर्वाभास आलोच्यकाल के अन्तिम वर्षों-(१९१८-२० ई०) में ही होने लगता है।

(ज) निष्कर्ष

विवेच्य कालीन काव्य-दर्शन में परंपरावादी तथा अँग्रेजी साहित्य के संसर्ग से उद्भूत स्वच्छन्दतावादी, दोनों ही प्रवृत्तियों का सन्निवेश हुआ है। यह काव्य-दर्शन विभिन्न प्रवृत्तिगत विशेषताओं के कारण अपनी कलावादी पहचान बना पाने में सफल रहा है। विवेच्य काव्य-दर्शन अपने संयत, स्वस्थ एवं सरस स्वरूप के कारण भारतीय कलावाद के अधिक समीप ठहरता है।

● ●

५. काव्यशिल्प और कलावाद

आधुनिक काव्य का विकास सामयिक परिस्थितियों एवं परिवर्तनों के कारण निर्मित नवीन काव्य-मूल्यों की पीठिका पर होता है। नवीन काव्य मूल्यों में पूर्ववर्ती काव्य की प्रेम-शृंगार-भावना और पाण्डित्यपूर्ण सुसज्जित शिल्प की अपेक्षा सामाजिक चेतना और सहज, सरल एवं अभिधापूर्ण भाषा-शैली को प्राथमिकता एवं प्रधानता दी गई। यद्यपि आलोच्य कालीन काव्य का शिल्प-विधान मुख्यतः उपयोगितावादी है, तथापि रीतिकालीन परंपरा के पालन और स्वच्छन्दतावाद के प्रभाव के कारण अवतरित नई शैल्पिक भंगिमाओं में कलावाद के सूचक लक्षणों को स्पष्टतः देखा जा सकता है। आधुनिक काव्य के शिल्पगत कलावादी आयामों को निम्नांकित रूप में रखकर अध्ययन किया जा सकता है—

(क) अभिजात एवं कलात्मक भाषा।
(ख) अलंकार-प्रयोग की अत्यधिक प्रवृत्ति।
(ग) प्रतीकात्मक एवं बिम्बाश्रित अभिव्यंजना-कौशल।
(घ) प्रगीतात्मक मुक्तक शैली।

(क) अभिजात एवं कलात्मक भाषा

कलावादी साहित्यकार की कल्पनाशीलता, रोमाण्टिकता वैयक्तिक अनुभूतियों की तीव्रता एवं भाषा के प्रति अत्यन्त जागरूकता आदि विशिष्टताएँ उसे रसपूर्ण भावाभिव्यंजक तथा पण्डित्यपूर्ण भाषा के प्रयोग की ओर अग्रसर करती हैं। इस प्रकार रूपवादी कलाकवि की भाषा भाववादी कवियों की भाषा से सर्वथा भिन्न एवं मौलिक गुण सम्पन्न होकर अभिजात तथा कलात्मक रूप धारण करती है। आधुनिक काव्य में भाषा-प्रयोग की ऐसी विभिन्न भंगिमाएँ हैं, जो कलावादी अवधारणा की सूचक मानी जा सकती हैं। भाषा-प्रयोग की स्थितियाँ निम्नांकित हैं—

(१) समास-संधि-बहुला एवं तत्सम शब्दावली-प्रधान भाषा का प्रयोग।
(२) लाक्षणिक वैचित्र्य।
(३) मनोरम व्यंजकता।
(४) कलापूर्ण मनोरम शब्द-विधान।

आधुनिक काव्य में संस्कृत शब्दों का प्रयोग दो रूपों में प्राप्त होता है— प्राचीनता का आभास देनेवाला क्लिष्ट रूप तथा नवीन विन्यासक्रम और नई भंगिमा से पूर्ण ललित रूप। "पिछले संस्कृत काव्य के संस्कारों के साथ पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य क्षेत्र में आए, जिनका प्रभाव गद्य साहित्य और काव्यनिर्माण दोनों पर बहुत ही व्यापक पड़ा। हिन्दी में परंपरा से व्यवहृत छंदों में परंपरा से व्यवहृत छंदों के स्थान पर संस्कृत के वृत्तों का चलन हुआ, जिसके कारण संस्कृत पदावली का समावेश बढ़ने लगा। भक्ति-काल और रीतिकाल की परिपाटी के स्थान पर पिछले संस्कृत साहित्य की पद्धति की ओर लोगों का ध्यान बँटा।"[1] संस्कृत की तत्सम शब्दावली से पूर्ण समास-संधि गर्भित भाषा का प्रयोग प्रायः उन्हीं कवियों की रचनाओं में बहुलता से मिलता है, जिन्होंने संस्कृत के छंदों को अपनाया है। रामचरित उपाध्याय, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' एवं मैथिलीशरण गुप्त आदि कवियों की कृतियों में इस प्रकार के भाषाप्रयोग को देखा जा सकता है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने हरिऔध की भाषिक संरचना संबंधी विशेषताओं के संबंध में लिखा है—"'हरिऔध' जी ने सीधी-सादी भाषा को अलंकृति, नृत्य और संगीत की विधाओं में पारंगत कर के उसे अनूठा आकर्षण और अद्भुत मोहन-शक्ति प्रदान कर दी।"[2] क्लिष्ट एवं संस्कृत प्रधान भाषा का प्रयोग 'हरिऔध' के 'प्रिय-प्रवास' महाकाव्य में देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ दो पद प्रस्तुत हैं, कवि ने संस्कृत शब्दों की लड़ी बाँधी है—

(१) रूपोद्यान-प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-बिम्बानना।
तन्वंगी-कलहासिनी-सुरसिका-क्रीड़ाकला-पुत्तली।
शोभा-वारिधि की अमूल्य मणि-सी लावण्य-लीलामयी।
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य की प्रतिमूर्ति थी।[3]

(२) नाना-भाव-विभाव-हाव-कुशला आमोद-आपूरिता।
लीला-लोल-कटाक्ष पात-निपुण भ्रूभंगिमा-पंडिता।
वादितादि समोद-वादन-परा आभूषण भूषिता।
राधा थी सुमुखी विशाल-नयना आनन्द-आन्दोलिता।[4]

1. हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५७७-५७८
2. हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास : डा. गणपति चन्द्र गुप्त, पृ० ६५७
3. प्रिय-प्रवास : अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पृ० ३६
4. वही, पृ० ३७

कवि की 'पद्य प्रमोद' रचना में भी कहीं-कहीं संस्कृत प्रधान भाषा का प्रयोग हुआ है। 'पद्यप्रमोद' से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

विघातिनी है गुरुता स्वदेश की,
विलोपिनी सुख शान्ति जाति की।
अपूज्यता-पूज्यता-अपूज्य-पूज्यता।[1]

रामचरित उपाध्याय ने संस्कृत प्रधान भाषा का प्रयोग कर अपनी भाषिक विद्वता का प्रदर्शन किया है। कहीं-कहीं तो उन्होंने संस्कृत की क्रियाओं का यथावत प्रयोग किया है। इस सन्दर्भ में कवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

अधिग्रस्तादपि अबला दुःखिता क्षीण-पुण्या।
मैं हूँ विद्या-विभव-विकला अस्मि प्राणावशिष्टा।[2]

मैथिलीशरण गुप्त मुख्यतः सरल और प्रसादगुणोचित भाषा के कवि हैं, किन्तु उन्होंने कहीं-कहीं प्रसंगानुकूल तत्समशब्दावली का प्रयोग भी किया है। गुप्त जी की 'साकेत', 'पद्य-प्रबंध' आदि कृतियों में यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। 'पद्य-प्रबंध' से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

सिंहासनस्थित प्रिया-युग सौख्यकारी,
सौदामिनी-सहित नीरद-कान्ति हारी।
त्रैलोक्यनाथ सुर-पूजित पाद-पद्म,
श्री राघवेन्द्र भज रे मन ! छोड़ छद्म।[3]

श्रीधर पाठक, निराला, पन्त आदि स्वच्छन्द प्रवृत्ति के कवियों की रचनाओं में तत्सम भाषा एक नवीन विन्यास-क्रम और नवीन भंगिमा के साथ ललित रूप में द्रष्टिगोचर होती है। पाठक की भाषा के संबंध में आचार्य शुक्ल लिखते हैं—"पाठक जी की रुचि बहुत ही परिष्कृत थी। शब्द-शोधन में तो पाठक जी अद्वितीय थे। जैसी चलती और रसीली इनकी ब्रज-भाषा होती थी, वैसा ही कोमल और मधुर संस्कृत पद विन्यास भी। × × × भद्दापन इनमें न था—न रूपरंग में न भाषा में × × ×।"[4] कवि की भाषा का ललित रूप इन पंक्तियों द्रष्टव्य है—

1. पद्य-प्रमोद : अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पृ० १३५
2. रामचरित-चिन्तामणि : रामचरित उपाध्याय, पृ० २३६
3. पद्य-प्रबन्ध : मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १
4 हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्यरामचंद्र शुक्ल, पृ० ५७८

"सेत हिमगिरि सुपय सुरसरि तेज तप-मय तरनि।
सरित-वन-कृषि-भरित-भुवि-छवि-सरस-कवि-मति-हरनि।[1]

'निराला' की 'जूही की कली' में भाषा के दोनों रूपों—सरल-साधारण रूप और नई भंगिमा से युक्त ललित रूप का प्रयोग साथ-साथ मिलता है—

विजन–वन–वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी--
स्नेह-स्वप्न-मग्न-अमल-कोमल-तनु-तरुणी
जूही की कली।[2]

सुमित्रानन्दन पंत के 'ग्रंथि' लघुकाव्य और 'पल्लव' की वसन्त-श्री, स्वप्न, छाया एवं स्याही की बूंद आदि कविताओं में तत्सम भाषा का ललित, स्निग्ध, चपल एवं सुकुमार रूप सप्राण हो उठा है। आधुनिक काल के प्रारंभिक वर्षों में जिस खड़ीबोली का काव्य भाषा के रूप में प्रयोग हो रहा था, किन्तु सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों एवं वैयक्तिक कल्पनाओं को अभिव्यक्त करने की क्षमता उसमें न थी। अतः विषयानुकूल नवीन कलापूर्ण भाषा की आवश्यकता अनुभव की गई। इसके अतिरिक्त "सुधार चाहने वालों में कुछ लोग नए-नए विषयों की ओर प्रवृत्त खड़ी बोली की कविता को व्रजभाषा काव्य की सी ललित पदावली तथा रसात्मकता और मार्मिकता से समन्वित देखना चाहते थे। जो अँगरेजी की या अँगरेजी के ढंग पर चली हुई बँगला की कविताओं से प्रभावित थे वे कुछ लाक्षणिक वैचित्र्य व्यंजक चित्र विन्यास और रुचिर अन्योक्तियाँ देखना चाहते थे।"[3] इस प्रकार अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली तथा भाषागत लालित्य की आकांक्षा के परिणाम स्वरूप खड़ी बोली नूतन कलाभंगिमाओं से समृद्ध होतीं गई। आलोच्यकाल उत्तरार्द्ध में भाषा के अन्तर्गत लाक्षणिक वैचित्र्य, मनोरम व्यंजकता एवं शब्द विधान-कौशल आदि कलावादी विशेषताओं का सन्निवेश हुआ। प्रारंभ में इन विशेषताओं के संकेत मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय तथा बदरीनाथ भट्ट की स्फुट रचनाओं में देखने को मिले। इस संदर्भ में गुप्त की 'पुष्पांजलि', 'स्वयं आगत', पांडेय की 'आंसू', 'उद्धार' कविताएँ और भट्ट के कुछ गीत उल्लेखनीय हैं। आगे चलकर जयशंकरप्रसाद की 'झरना', 'प्रेम-पथिक', 'कानन-कुसुम', सुमित्रानन्दन पन्त की 'वीणा' (१६१८ ई०) 'ग्रंथि' (१६२० ई०) 'पल्लव' (१६१८-२४ ई०) और निराला की 'जुही की कली' आदि कविताओं में

1. भारत-गीत : श्रीधर पाठक, पृ० २१
2. परिमल (जूही की कली) : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पृ० १६१
3. हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६१८

प्रवृत्तियाँ अपने प्रौढ़तम रूप में दृष्टिगोचर हुईं। कवियों ने अपने दार्शनिक विचारों और प्रेमपरक वैयक्तिक अनुभूतियों को मूर्त रूप देने एवं बोधगम्य बनाने के उद्देश्य से लाक्षणिक वैचित्र्य का आश्रय लिया है। प्रसाद के 'झरना' काव्य-संग्रह की इन पंक्तियों में भाषा का लाक्षणिक प्रयोग देखिये—

वीणे पंचम स्वर में बजकर मधुर मधु
बरसादे स्वयं विश्व में आज तो।
उस वर्षा मे भीगे जाने से भला
लौट चला आवे प्रीतम इस भवन में।[1]

पंत की निम्नांकित पंक्तियों में भी लाक्षणिक लावण्य अवलोकनीय है—

विपुल कुंजों की सघनता में छिपी
ऊँघती है नींद सी मेरी स्पृहा
ललित लतिका के विकम्पित अधर में
काँपती है मुखर मेरी कल्पना।[2]

कवि के आवेशपूर्ण क्षणों में स्वतः समुच्छ्वसित भावस्रोत के त्वरित प्रवाह को साधारण भाषा वहन करने में असमर्थ रहती है, अतः वह भाषा की व्यंजना शक्ति का आश्रय ग्रहण करता है। विवेच्य कवियों ने अपनी गहन-सघन अनुभूतियों की अत्यन्त मनोरम व्यंजनाएँ की है। कविता के स्वरूप एवं भावों के साँचे में ढलकर और हृदय की उपणता में गलकर भाषा कनककिरण सी भास्वर हो उठी है—

(१) धूल धूसर है धरा मलिना तुम्हारे लिए।
है फटी दूर्वादलों की श्याम साड़ी देखिए।[3]

(२) भीग मालिनि की तरल जलधार से
एक मधुकर मूल में गिरकर, सजल
भग्न आशा से छदों को पोंछकर
पुनः उड़ने को विकल था हो रहा।
मन्द मारुत से वसन्ती झूम कर
झुक रही थी तरल तिरछी पाँति में
ललित लोल उमंग-सी लावण्य की
मानिनी-सी, पीन यौवन भार से।[4]

1. झरना : जयशंकरप्रसाद, पृ० ३४
2. ग्रन्थि : सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० ४७
3. कानन-कुसुम : जयशंकरप्रसाद, पृ० ३३
4. ग्रन्थि : सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० १७

जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' एवं सुमित्रानन्दन पन्त आदि स्वच्छन्दतावादी कवियों ने कलापूर्ण मनोरम शब्द विधान किया है, जो उनकी प्रातिभ प्रगल्भता का परिचायक है। यह कलापूर्ण-मनोरम शब्द विधान, विषयानुरूप स्निग्ध वर्ण-विन्यास, आलोकमय विशेषण-प्रयोग तथा ललित शब्द-निर्माण आदि रूपों में मिलता है। इन कवियों ने विषयानुरूप ऐसे शब्दों की योजना की है, जो समवेतस्वर से वर्ण्य विषय को ध्वनित करते हैं। इसप्रकार की वर्ण-संगति प्रसाद के 'झरना' एवं 'चित्राधार' की कुछ कविताओं और पंत के 'पल्लव' एवं ग्रंथि काव्यों में पायी जाती है। निम्नांकित पंक्तियों में विषय के अनुरूप प्रसाद गुणोपेत भाषा की लयगामी स्वर-झंकृति में वर्ण्य विषय की व्यंजना द्रष्टव्य है—

(१) कंचन कंकन किंकिनि को कलनाद सुनावत।
नन्दन-कानन-कुसुमदाम सौरभ सो छावत।
निज अमन्द सुचिचन्द-वदन सोभा दिखरावत।
जगमगात जाहिरहि जवाहिर को चमकावत।[1]

(२) तरल हीरक लहराता शान्त।
सरल आशा सा पूरित ताल।
सिताबी छिड़क रहा विधु-कान्त।
बिछा है सेज कमलिनी जाल।[2]

(३) विपुल कुंजों की सघनता में छिपी
ऊँघती है नींद सी मेरी स्पृहा,
ललित लतिका के विकम्पित अधर में
काँपती है आज मेरी कल्पना।[3]

महाकवि 'निराला' की 'जुही की कली' में भी भावाभिव्यंजक सुमधुर शब्द-योजना दृष्टिगोचर होती है। आधुनिक कवियों ने ऐसे आलोक पूर्ण विशेषणों का प्रयोग किया है, जिनमें कवि का अभिप्रेत आलोक सदृश खुलकर बिखर जाता है। आलोकमय विशेषण-संयुक्त भाषा सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रेमानुभूतियों को मूर्तरूप प्रदान कर उन्हें संवेद्य बना सकी। यद्यपि इस प्रकार की भाषा का प्रयोग विवेच्यकाल में अधिक नहीं मिलता है, तथापि परवर्ती स्वच्छन्दतावादी काव्य (छायावाद) की पूर्वपीठिका के रूप में इसका ऐताहासिक महत्त्व

1. चित्राधार : जयशंकरप्रसाद, पृ० २२
2. झरना : ,, , पृ० ६८
3. ग्रंथि : सुमित्रानंदन पंत, पृ० ४७

है। प्रसाद और पंत की रचनाओं में आलोकमय विशेषणों की मोहक छटा दर्शनीय है—

(१) बेसुरा पिक पा नहीं सकता कभी,
इस रसीली मूर्च्छना की मत्तता।[1]
(२) विश्व में ऐसा शीतल खेल
हृदय में जलन रहे क्या बात।[2]
(३) सजल सुधि में मग्न हो जावें पुनः।[3]
(४) भग्न भावी को डुबादे आँख सी।[4]
(५) विधुर उर के तारों में आज
गा रहे हैं क्या अस्फुट गीत।[5]

आधुनिक कवियों में कोमल एवं प्रेमपरक भावनाओं के वर्णन एवं सुकुमार सौन्दर्य के चित्रण के लिए प्रत्ययों के योग तथा स्वर संधियों के आधार पर ललित, सुकोमल एवं भावव्यंजक शब्दों के निर्माण की प्रवृत्ति पायी जाती है। विवेच्य कवियों में प्रसाद एवं पन्त में यह प्रवृत्ति अधिक मिलती है। यहाँ नवनिर्मित कलापूर्ण शब्दों को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है—

प्रत्यय के योग से शब्द-निर्माण

विलसित, श्यामल, रञ्जित, प्रकटित, पुलकित, प्रतिबिम्बित, रचित, सिञ्चित, परितापित, मिलित, प्रफुल्लित, बंकिम, रंजक, प्रमुदित, परिपूरित, विरचित, नैसर्गिक, ताड़ित, सुवासित, मुकुलित, आलोकित इत्यादि।[6]

मंजुल, चुम्बित, शब्दित, गुंजित, अलसित, कम्पित, सिञ्चित, ज्योतित, विकम्पित, वंचित, निद्रित स्वप्निल, फेनिल, आलिंगित, विचुम्बित, विमूर्च्छित हर्षित, विमर्षित इत्यादि।[7]

1. झरना : जयशंकरप्रसाद, पृ० २७० (ग्रन्थावली)
2. वही, पृ० २७६
3. ग्रन्थि : सुमित्रानंदन पन्त, पृ० ५
4. वही, पृ० ३५
5. वीणा : सुमित्रानंदन पंत, पृ० १०६
6. प्रसाद ग्रंथावली खण्ड-१ सं० १ रत्नशंकरप्रसाद, पृ० सं० क्रमशः चित्राधार—१७, २८, ४८, प्रेमपथिक : ६०, ६१, ६६, ६८, १००, १००, १०१! कानन-कुसुम—१६६, झरना—२३८, २४० २६२, २६३, २६८, २७७, २८०, २८५, २८८, २९०
7. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रन्थावली, खण्ड एक (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली) पृ० स० क्रमशः वीणा—९०, ९०, ९६, ९७, ९७, ९७, ९८, ९९, ग्रन्थि—१३९, १३९, पल्लव—१९७, १९८, १९८, २२०, २२०, २२२, २२२, २२२

स्वर संधि के आधार पर शब्द-निर्माण

हारावलि, हेमाभ, शस्यावलि, ज्वालावलि, किरणावलि, मलयानिल, सुमनावलि, अरुणालय, दीपाधार, कमलावली भ्रमरावली, नीलाकाश इत्यादि।[1]

दयानिल, अधरामृत इत्यादि।[2]

अन्त में हम कह सकते हैं कि विवेच्यकाल की भाषा की विभिन्न स्थितियाँ—तत्सम प्रधानता, लाक्षणिक वैचित्र्य, मनोरम व्यंजकता एवं नूतन शब्द-निर्माण–उसे सामान्य अभिधा पूर्ण भाषा से पृथक एक विशेष श्रेणी (अभिजात एवं कलात्मक श्रेणी) में पहुँचा देती हैं। इस प्रकार भाषा का यह विशेष रूप कलावादी अवधारणा का संपोषक माना जा सकता है। यही अभिजात एवं कलापूर्ण भाषा उत्तरोत्तर विकासोन्मुख होती गई और परवर्ती काव्य (छायावादी काव्य) में अपने श्रेष्ठ एवं समुन्नत रूप में प्रतिष्ठित हुई।

(ख) अलंकार-प्रयोग की अत्यधिक प्रवृत्ति

कोई भी काव्य भाषा अपने प्रारंभिक रूप में प्रायः अभिधापूर्ण, सरल एवं अपरिमार्जित होती है, कालान्तर में ही उसके भीतर काव्यत्व का स्फुरण हो पाता है। आधुनिक काल में खड़ी बोली काव्य भाषा के पद पर आसीन हुई और वह भी शनैः-शनैः परिष्कृत एवं परिवर्द्धित होकर अलंकृत एव कलात्मक रूप ग्रहण करती गई। दूसरी ओर नीरस तथा वर्णनात्मक भाषा-शैली की प्रतिक्रिया के रूप में सरल एवं काव्यपूर्ण भाषा-शैली का अवतरण हुआ। इसप्रकार काव्य भाषा के विकास की सहज प्रक्रिया तथा तत्कालीन भाषा-शैली की प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप काव्य के अन्तर्गत कलात्मक एवं पारदर्शी शिल्प के लिए मार्ग प्रशस्त होता गया। विवेच्य कवियों की अलंकार-प्रयोग की अत्यधिक प्रवृत्ति को इसी कलात्मक रुझान के एक आयाम के रूप में लिया जा सकता है। नव विकसित काव्य भाषा (खड़ी बोली) के साथ-साथ कोमल कान्त पदावली से पूर्ण, सरस एवं अलंकृत ब्रज भाषा का भी प्रयोग हो रहा था। अस्तु, परंपरागत एवं प्राचीन अलंकारों के प्रयोग

1. प्रसाद ग्रंथावली, खण्ड १, स० रत्नाशंकरप्रसाद, पृ० क्रमशः चित्राधार—१७, प्रेमपथिक ८७, ३७, ३७, ४४, ४५, ४६, १२१, १३६, १७६, १७६, २३६
2. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रन्थावली खण्ड १ (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली) पृ० सं० क्रमशः ग्रंथि—१२६, पल्लव—१६५

और नवीन अलंकारों के सन्निवेश से काव्य का कलावादी स्वरूप निर्मित हुआ। वैयक्तिकता, काल्पनिकता और भावात्मकता आदि रोमाण्टिक प्रवृत्तियों ने अलंकार-योजना को और भी विकसित एवं व्यापक धरातल प्रदान करने में सहायता प्रदान की। विवेच्यकाव्य की अलंकार योजना को प्रमुख दो रूपों में रखकर अध्ययन किया जा सकता है—

(१) परंपरागत रूप में।

(२) स्वच्छन्द रूप में।

अलंकार-योजना के परंपरागत रूप में रीतिकवियों की चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। रीतिकालीन कवियों को कविता-कामिनी का अलंकार-आभूषणों से जगर-मगर अधिक अद्भुत रूप ही काम्य रहा। आधुनिक कवि भी इस अद्भुत मोहाकर्षण से मुक्त नहीं हो सके हैं। रीति-परिपाटी पर अपनी अलंकरण-कला का प्रदर्शन करने वाले कवियों में लाला भगवानदीन, बदरीनारायण चौधरी, प्रेमघन, लोचन प्रसाद पाण्डेय, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' पं० नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर', जयशंकर प्रसाद इत्यादि प्रमुख हैं।

लाला भगवान 'दीन' ने ब्रजभाषा में पुराने ढंग को कविताएँ लिखी है। लाला जी की भक्ति एवं शृङ्गार संबंधी अनेक कविताओं में उक्ति चमत्कार देखा जा सकता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

सुनि मुनि कौसिक तें साप को हवाल सब
बाढ़ी चित्त करुना की अजब उमंग है।
पद रज डारि करे पाप सब छारि,
करि नवल सुनारि दियो धाम हू उतंग है।
'दीन' भनै ताहि लखि जात पतिलोक
ओर, उपमा अभूत को सुझानो नयो ढंग है।
कौतुक निधान राम रज की बनाय रज्जु,
पद तें उड़ाई ऋषि-पतिनी-पतंग है।[1]

'प्रेमघन' की भक्ति-शृङ्गार परक भावनाओं की अभिव्यक्ति रीतिकालीन आलंकारिक चमक दमक लिए हुए होती है—

बरसत नेह, यह बरसत रूप वह
बरसत मेह साँझ समै दूर धाम है।

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६०५

गरजि-गरजि बहु त्रास उपजावै उर,
निपट अकेली दूसरी न कोऊ वाम है।
कहा करूँ, कैसे जाऊँ, जानि न परत,
उतै घेरे घनश्याम, इतै घेरे घनश्याम है।[1]

लोचनप्रसाद पाण्डेय की निम्नलिखित पंक्तियों में अनुप्रास-योजना द्रष्टव्य है—

नय-नीति-निपुणता-निधि नव-नागर तू है,
स्वातन्त्र्य-शान्ति, सुख-शासन सागर तू है।
साहित्य शिल्प समुदाय शिक्षा-सर तू है,
शुचि-सृष्टि-सार सौरभ-शोभाकर तू है।[2]

उपर्युक्त पंक्तियों को पढ़कर रीतिकालीन कवि पद्माकर की ये पंक्तियाँ स्मरण हो आती हैं—

कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलित कलोन किलकन्त है।

× × ×

बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में
बनन में बागन में बगर्‌यौ बसन्त है।[3]

हरिऔध के 'प्रेमाम्बु प्रश्रवण' (१९०१ ई०), 'प्रेमाम्बुप्रवाह' (१९०१ ई०) तथा प्रिय प्रवास (१९१४ ई०) आदि काव्यों में कहीं-कहीं अलंकार-योजना रीतिकालीन कवियों का अनुगमन करती दीख पड़ती है। कवि के महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' से दो छन्द प्रस्तुत हैं, क्रमशः अनुप्रास तथा उपमा-मालेपमा अलंकारों का चमत्कार है—

(१) विमुग्धकारी मधु मंजुमास था
बसुन्धरा थी कमनीयता मयी,
विचित्रता साथ विराजिता रही,
बसन्त-वासंतिकता बनान्त में।[4]

(२) हरीतिमा का सु विशाल सिन्धु सा
मनोज्ञता की कमनीय भूमि सा,

1. हिंदी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास : डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, पृ० ६२७
2. पद्य पुष्पांजलि : लोचनप्रसाद पण्डेय, पृ० १
3. पद्माकर—व्यक्ति, काव्य और युग : डा. उमाशंकर शुक्ल, पृ० १६३
4. प्रिय-प्रवास : अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' पृ० १०६

विचित्रता का [illegible]
प्रशान्त-वृन्दावन दर्शनीय था।[1]

'शंकर' रीतिकालीन रचना-शैली के सिद्धहस्त कवि हैं। उनकी समस्या पूर्तियाँ एवं अन्य स्वतन्त्र रचनाएँ बड़ी ही सरस तथा अनूठी हैं, जिनमें रीतिकालीन अलंकारी कविताई का ठाठ है। कथन की पुष्टि मे कवि के दो कवित्त प्रस्तुत किए जाते हैं—

(१) कज्जल के कूट पर दीपशिखा सोती है,
कै श्याम घन-मंडल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है,
कै राहु के कबंध पै कराल केतु तारा है।
शंकर कसौटी पर कंचन की लीक है,
कै तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।
काली घाटियों के बीच मोहिनी की माँग है,
कै ढाल पर खाँड़ा कामदेव का दुधारा है।[2]

(२) तेज न रहेगा तेजधारियों का नाम को भी,
मंजुल मयंक मन्द-मन्द पड़ जाएँगे।
मीन बिनु मारे मर जाएँगे, सरोवर में
डूब-डूब 'शंकर' सरोज सड़ जाएँगे।
चौंक-चौंक चौकड़ी भरेंगे मृग चारों ओर,
खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जाएँगे।
देखें इन अँखियों से होड़ करने को अब,
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जाएँगे।[3]

प्रसाद की प्रेमवर्णन तथा ऋतु-चित्रण संबंधी रचनाओं में रीति कालीन-अलंकरण-प्रवृत्ति की झलक पायी जाती है। इस सन्दर्भ में कवि के 'चित्राधार' संग्रह की शरद-पूर्णिमा[4], संध्या तारा[5], चन्द्रोदय[6], इन्द्रधनुष,[7] मकरन्द-बिन्दु[8], शीर्षक रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। 'मकरन्द-बिन्दु' से कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

1. प्रिय-प्रवास : अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पृ० १०६
2. शकर-सर्वस्व : हरिशकर शर्मा, पृ० १७८
3. वही पृ० १७६
4. प्रसाद ग्रन्थाली : रत्नशकरप्रसाद, पृ० ५८
5—8. वही, पृ० क्रमशः ५६, ६१, ६३, ७३

अनुप्रास अलंकार

(१) चित चैन चाहत है चाह में भरी है चेति
चैत चन्द नेक तो चकोरी को निहारिये ।[1]

(२) छोह छरि लीने मन औरै करि दीने
रे बसन्त रसभीने, कौन मन्त्र पढ़ि दीने तू ।[2]

यमक अलंकार

आवत हौ अन्तर में अन्तर रखत तऊ,
जपत निरन्तर हौं अन्तर न जानिकै ।[3]

रूपक, सांगरूपक तथा उत्प्रेक्षा अलंकार

मिल रहे माने मधुकर मनमोद भरे,
खिल रहे सुमन सुगन्ध सरसाये, देत ।
सीरी कछु भीनी सी समीर हू चलत जौन
मिलित पराग ह्वै गुलाल बगराये देत ।
बरखा सी कीन्ही है बसन्त मकरन्द-बिन्दु
कमल कली की पिचुकारियाँ चलाये देत ।
बैठिके रसालन की डालन पै कूकि-कूकि
तैसी पिकपाँति हू धमार गुन गाये देत ।[4]

गिरधर शर्मा 'नवरत्न', रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण', रामनरेश त्रिपाठी तथा मैथिली शरण गुप्त आदि ने भी ब्रजभाषा काव्य की चमत्कार पद्धति पर रचनाएँ की हैं।

विवेच्यकाव्य में अलंकार-योजना परंपरागत रूप के अतिरिक्त स्वच्छन्द रूप में भी दिखायी देती है। स्वच्छन्दतावादी कवियों में सौन्दर्य के प्रति गहन आस्था थी। उनकी यह सौन्दर्य-आस्था काव्य में भाव-सौन्दर्य तथा शिल्प-सौन्दर्य के सामञ्जस्य के रूप में अवस्थित हुई है। इस सौन्दर्य चेतना से कवियों में एक नवीन अलंकार-बोध जाग्रत हुआ, जिसमें अलंकार वाणी की मात्र सजावट के रूप में नहीं प्रत्युत् भाव की अभिव्यक्ति के विशेष उपादान के रूप में मान्य हुए। इसप्रकार अलंकार-योजना भाव और भाषा की सम्पृक्तता, कथ्य की संप्रेषणीयता तथा भावों की उदारता की पर्याय बन गई। अलंकार-शोभा के भार से 'सूधे पाँव' न चल सकने वाली सुकुमारि कविता-

1. प्रसाद-ग्रन्थावली : (सम्पादक) रत्नशंकरप्रसाद, चित्राधार, पृ० ७३
2—4. वही, पृ० क्रमशः ७३, ७६, ७८.

कामिनी अब अपनी सहज-स्वाभाविक गति से चलने लगी। हिन्दी-कविता में संभवत: पहली बार रूढ़ उपमानों एवं पिष्टपेष्टित अलंकारों के स्थान पर नए-नए उपमान-अप्रस्तुतों और नवीन अलंकारों के समायोजन की ओर उन्मुख हुई। इस सन्दर्भ में श्रीधर पाठक की 'काश्मीर-सुषमा', जयशंकर प्रसाद की 'कानन-कुसुम', प्रेम-पथिक' 'झरना', रामनरेश त्रिपाठी की 'पथिक', सुमित्रा-नन्दन पन्त की 'वीणा', ग्रंथि, पल्लव और सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की 'जूही की कली' रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। अलंकार-प्रयोग की नव विकसित प्रवृत्तियाँ निम्नांकित उदाहरणों में देखी जा सकती हैं—

उपमा अलंकार

(१) कमला के कंचन मन्दिर का मनोकान्त कंगूरा।[1]

(२) उदित कुमुदिनी-नाथ हुए प्राची में ऐसे,
सुधा-कलश रत्नाकर से उठता हो जैसे।[2]

(३) धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश
मधुर मुरली सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञान विश्व की विकल,
वेदना-दूती सी तुम कौन ?[3]

(४) कौन—कौन तुम परिहृत वसना,
म्लानमना, भू पतिता-सी,
वात-हृता विच्छिन्न लता-सी,
रतिश्रांता, व्रज-वनिता सी।[4]

(५) नयन-नीलिमा के लघु नभ में
अलि किस सुखमा का संसार
विरल इन्द्रधनुषी बादल सा
बदल रहा निज रूप अपार।[5]

रूपक अलंकार

(१) ताराओं की माला कवरी में लटकाए, चन्द्रमुखी
रजनी अपने शान्ति राज्य-आसन पर आकर बैठ गई।[4]

(२) तारा-हीरक-हार पहन कर चन्द्रमुख—

1. पथिक : रामनरेश त्रिपाठी, पृ० ५
2. प्रसाद ग्रन्थावली, (सम्पादक) रत्नशकरप्रसाद, काननकुसुम, पृ० २०८
3. झरना . जयशकरप्रसाद : पृ० २६ ।
4. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रन्थावली, खण्ड १, पल्लव, २०३
5. वही, पृ० १६८

दिखलाती उतरी आती थी चांदनी ।[1]

(३) छवि के वन में एक नाल में
दो कलिकाएँ फूली हैं,
कलित कल्पना की डाली में,
जो अतीत से झूली हैं ।[2]

उत्प्रेक्षा अलंकार

(१) चहुँदिसि हिमगिरि-सिखर हीर-मनि मौलि-अवनि मनु ।
स्रवत सरित-मितधार द्रवत मोह चन्द्रहार जनु ।।
फल-फूलनि छवि-छटा छई जो वन उपवन की ।
उदित भई मनु अवनि-उदर सों निधि रतनन की ।।[3]

(२) देखो मोहन अपना कैसा वेश बदलना आता है
नीलाम्बर को छोड़ दिया पीताम्बर पहने वह आया
ताराओं का मणि-आभूषण धीरे-धीरे उतरा है ।[4]

विरोधाभास अलंकार

(१) अमृत सदृश नश्वर काया में ।[5]

(२) रूखे ही तुम रहो, बूंद रस के झरें,
हम तुम जब हैं एक, लोग बकते फिरें ।[6]

(२) स्वप्न लोक में आज जागरण के समय ।[7]

मूर्त-अमूर्त सादृश्य विधान

(१) सर्वोपरि उन्नत मन की सी लक्षित अचल ऊँचाई ।[8]
(पर्वत की ऊँचाई का वर्णन, मूर्त का अमूर्त विधान)

(२) द्रुमदल आच्छादित कुटीर है, जिस पर लतिका चढ़ी हुई
ईश-दया-सी छाई है, ··· ··· ··· ··· 9
(मूर्त का अमूर्त विधान)

1. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रन्थावली, खण्ड एक, महाराणा का महत्व पृ० १३६
2. वही, पृ० १०२-३
3. काश्मीर—सुषमा : श्रीधर पाठक, पृ० ५
4. प्रसाद—ग्रन्थावली, प्रेमपथिक : रत्नशंकरप्रसाद, पृ० १०१
5. वही, झरना, पृ० २४५
6. वही, कानन—कुसुम, पृ० १६१
7. वही, झरना, पृ० २६८
8. पथिक, रामनरेश त्रिपाठी, पृ० ३४
9. प्रसाद-ग्रन्थावली, प्रेम-पथिक, पृ० ८८

(१) मन्द मारुत से वसन्ती झूम कर
झुक रही थी तरल तिरछी पाँति में
ललित लोल उमंग-सी लावण्य की
मानिनी-सी, पीन यौवन भार से ।[1]

(२) देवि ! ऊषा के खिले उद्यान में,
सुरभि वेणी में भ्रमर को गूँथकर,
रेणु की साड़ी पहन औ तुहिन का
मुकुट रख, तुम खोलती हो मुकुल को ।[2]

श्रीधर पाठक ने अपनी 'काश्मीर-सुषमा' रचना में प्रकृति का मानवीकरण करते हुए उसकी विविध मुद्राओं--भंगिमाओं के चित्र अंकित किए हैं—

विहरति विविध विलास भरी जोवन के मद-सनि ।
ललकति किलकति पुलकति निरखति थिरकति बनि ठनि ।
मधुर मंजु छवि-पुंज छटा छिरकति वन-कुंजन ।
चितवति रिझवति हँसति डसति मुसक्याति हरति मन ।

विशेषण विपर्यय में विशेषण को उसके वास्तविक स्थान से हटाकर अन्य स्थान पर प्रयुक्त किया जाता है। यह कथनकी भंगिमा विशेष है, जो भारतीय काव्य शास्त्र में लक्षण के अन्तर्गत समाहित है। निम्नांकित पंक्तियों में विशेषण विपर्यय का प्रयोग द्रष्टव्य है—

(१) विह्वल सी थी दीन वेदना ।[3]
(२) मायामयी सुप्ति में सोकर ।[4]
(३) इस रसीली मूर्च्छना की मत्तता ।[5]
(४) विम्ब में ऐसा शीतल खेल ।[6]
(५) विधुर उर के तारों में आज ।[7]
(६) सजल सुधि में मग्न हो जावें पुनः ।[8]

1. सुमित्रानन्दनपंत-ग्रंथावली, ग्रंथि, पृ० १२७
2. वही, पृ० १३६
3. प्रसाद ग्रंथावली, झरना : रत्नशंकरप्रसाद, पृ० २४८
4—6. वही, पृ० क्रमशः २५३, २७०, २७६
7. सुमित्रानन्दनपंत ग्रंथावली, वीणा, पृ० १०६
8. वही, ग्रंथि, पृ० १२३

(७) हा ! अभय भवितव्यते ![1]
(८) व्यर्थ मेरा धन न यों छीनों—सजल
वेदना, यह प्रणय की दी वेदना ।[2]
(९) और भोले प्रेम ! क्या तुम हो बने,[3]
(१०) विरह ! अहह, कराहते इस शब्द को ।[4]
(११) मेरा मधुमय तुतला गान ।[5]

ध्वन्यर्थ व्यंजना अलंकार में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जो अपनी ध्वनि से अभीप्सित अर्थ की व्यंजना करते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में कथन की यह विशेष भंगिमा शब्द—गुणों (ओज, माधुर्य, प्रसाद) के अन्तर्गत समाहित है। पंत और प्रसाद की रचनाओं में इस अलंकार का प्रयोग देखा जा सकता है —

(१) संध्या की हेमाभ तपन,[6]
(२) घोर कर्म्म भीमा रजनी[7],
(३) नव तमाल श्यामल नीरद माला भली ।[8]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन परिपाटी पर चलने वाले कवियों ने प्रायः कुछ प्रचलित अलंकारों तथा रूढ़ उपमानों में ही अपनी कवित्त-शक्ति का प्रदर्शन किया है। नवीन अलंकार-योजना रीतिकालीन अलंकार-वैभव की अपेक्षा अधिक समृद्ध, जीवन्त और एक नवीन आभा से प्रदीप्त है। यह नवीन चेतना अलंकार-चेतना इस कालखण्ड की एक विशेष कलावादी उपलब्धि मानी जा सकती है। रीतिकालीन अलकरण-धारा तो आलोच्यकाल में ही क्षीण पड़कर लुप्तप्राय हो गई, किन्तु नवीन चेतना विकसित होकर छायावादी कविता में "अभिव्यंजना की अत्यन्त मनोरम पद्धति के दर्शन ।"[9] कराने मे सहायक सिद्ध हुई।

1. सुमित्रानन्दन पंत ग्रंथावली, ग्रंथि, पृ० १३३
2—.4 वही, पृ० क्रमशः १३५, १३५, १३७
5. वही, पल्लव, पृ० २१९
6. प्रसाद ग्रन्थावली, प्रेम-पथिक, रत्नाशंकरप्रसाद, पृ० ८७
7. वही, पृ० ८९
8. वही, झरना, पृ० २४०
9. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,पृ० ६९२

(ग) प्रतीकात्मक एवं बिम्बाश्रित अभिव्यंजना कौशल

खड़ीबोली के काव्य भाषा पद पर आसीन हो जाने के बाद (१६१३-१४ ई० के आसपास) उसे काव्योचित धर्मों से समन्वित देखने की तीव्र आकांक्षा बढ़ने लगी थी, जिसके प्रारंभिक संकेत मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय तथा बदरीनाथ भट्ट की तत्कालीन रचनाओं में देखे जा सकते हैं। समीक्ष्यकाव्य की प्रतीकबिम्ब योजना को इसी आकांक्षा के परिणाम के रूप में लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य कलात्मक विचारधाराओं एवं मानवताओं ने भी आधुनिक हिन्दी कविता के लिए प्रतीकात्मक तथा बिम्बाश्रित भाव प्रकाशन का मार्ग प्रशस्त किया। वस्तुत: इस अवधि में खड़ीबोली ने वह कलात्मक क्षमता प्राप्त करली थी कि जिसके कारण बाद में उसमें उत्कृष्ट कोटि की काव्य रचना संभव हो सकी।

विवेच्य कालखण्ड के अन्तिम चरण (१६१४ ई० से) में काव्य के अन्तर्गत इतिवृत्तात्मकता एवं नीरसता के स्थान पर काल्पनिकता भावात्मकता इत्यादि रोमानी प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। इसी समय कवि प्रकृति के सान्दर्य की ओर सहज ही आकर्षित हुए। अनुभूति जन्य एवं भावोच्छ्वसित कवि-वाणी सरल एवं अभिधापूर्ण भाषा को छोड़कर भाषिक भंगिमाओं में मुखरित होने लगी। प्रतीक इन भाषिक भंगिमाओं के महत्त्वपूर्ण आयाम हैं। आधुनिक कवियों की प्रतीक-योजना का मूल उद्देश्य भक्त कवियों की भाँति आध्यात्मिक या रहस्यात्मक तत्त्व की अभिव्यक्ति करना नहीं है। ये कवि मुख्यत: लौकिक प्रेम-सौन्दर्य की व्यंजना करने के लिए प्रतीकात्मक शैली की ओर आकर्षित हुए हैं। अभिव्यंजनागत वक्रता तथा वैचित्र्य सृष्टि में इन प्रतीकों की सार्थकता है किन्तु ये अभिव्यक्ति के साधनमात्र नहीं हैं। इन प्रतीकों के मूल में मनोवृत्तियों की अन्त:प्रेरणा विद्यमान रहती है। कवि अपनी रोमाण्टिक ग्रंथियों को अपने मन के मसृण-सुकोमल विविध रंगों में रँगकर उनके उदाची करण की ओर प्रयत्नशील हुए हैं। इस प्रकार आधुनिक प्रतीकों का अनादि एवं सौन्दर्यगत मूल्य भी है। आधुनिक कवियों की प्रतीक-योजना को दो रूपों में रखकर मूल्यांकन किया जा सकता है—

१. परंपरागत प्रतीकों की योजना।

२. मौलिक एवं नवीन प्रतीकों की योजना।

आधुनिक कवियों के परंपरागत तथा प्राचीन प्रतीक चिरपरिचित होने तथा उनके साथ धारणात्मक संबंध होने के कारण सरल एवं सहज ग्राह्य हैं।

कहीं-कहीं कवियों ने परंपारित प्रतीकों से नूतन अर्थ ध्वनित करने का प्रयत्न भी किया है, अतः इनके यहाँ प्राचीन प्रतीक भी नूतन आभा से मंडित होकर कलात्मक बन गए हैं। इस दृष्टि से निम्नांकित उद्धरणों में प्रयुक्त प्रतीक द्रष्टव्य हैं —

सखि ! नील नभस्सर से उतरा यह हंस[1]
(सूर्य के लिए प्रयुक्त)

स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला।[2]
(उर्मिला के लिए प्रयुक्त)

ओस की दो बूंद कमल से में कढ़ी,
या उगलती बूंद हैं दो मछलियाँ।
या अनोखी गोलियाँ चाँदी मढ़ी,
खेलती हैं खंजनों की लड़कियाँ।[3]
(आँसुओं के लिए प्रयुक्त)

ठौर है वह एक ही यह राह कितनी हैं गईं,
दूध इनका एक है केवल पियाले हैं कई।[4]
(क्रमशः परमतत्व और धर्म के लिए प्रयुक्त)

मैं कहती थी मेरा मृदु मुख
शशि के कर खोलें शीतल।[5]
(लौकिक या अलौकिक प्रियतम के हाथों के लिए प्रयुक्त)

छबि के वन में एक नाल में
दो कलिकाएँ फूली हैं।[6]
(दिव्य लोक तथा आनन्दानुभूति के लिए प्रयुक्त)

रोयी मैं निज मुक्ताओं को
तेरे सम्मुख हा-हा कर।[7]
(आत्मस्वरूप के लिए प्रयुक्त)

साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, पृ० २०७
वही, पृ० २०
पद्य-प्रमोद : अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पृ० १२०
वही, पृ० ३६
सुमित्रानन्दन पन्त-ग्रन्थावली, वीणा, पृ० ८६
वही, पृ० १०२
वही, पृ० ११७

देख रति ने मोतियों की लूट यह ।[1]

(लज्जा युक्त मन्द हास्य के लिए प्रयुक्त)

प्रथम केवल मोतियों को हंस जो ।[2]

(क्रमशः प्रेम तथा प्रेमी के लिए प्रयुक्त)

खिलता था नव प्रणयानिल से नन्दनकानन का अरविन्द ।[3]

(दिव्य आनंद के लिए प्रयुक्त)

स्थिर हो लगे देखने दोनों के दृग-तारा-अरुणोदय ।[4]

(प्रेमानुभूति के लिए प्रयुक्त)

जिस मन्दिर के दीप इन्दु, दिनकर औ ' तारे ।[5]

(सृष्टि, लोक अथवा जगत के लिए प्रयुक्त)

मेरे मरुमय जीवन के हे सुधा-स्रोत ! दिखला जाओ ।[6]

(प्रियतम के लिए प्रयुक्त)

सीच कर क्या फल पाया,
फूल भी हाथ न आया ।[7]

(अल्प मात्रिक प्रेम के लिए प्रयुक्त)

जो कवि अपने व्यक्तिगत भावोच्छवासों की अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख होता है, उसे प्रायः मौलिक प्रतीकों की योजना करनी पड़ती है । इस योजना में कवि की वैयक्तिक अभिरुचि और उसके व्यक्तित्व का भी बड़ा हाथ रहता है । आधुनिक कवियों ने वैयक्तिक प्रेमानुभूतियों और सौन्दर्यबोधों से प्रेरित होकर अनेक नवीन प्रतीकों की योजनाएं की हैं । इन रोमाण्टिक व्यक्तियों ने अधिकांश प्रतीक प्रकृति से ग्रहण किए हैं क्योंकि एक रोमाण्टिक कवि के लिए प्रकृति वैयक्तिक जीवन का प्रतीकात्मक विकास है—

"Nature is nothing but a symbolic development of his own individual life."[8]

1 सुमित्रानन्दन पंत-ग्रंथावली, ग्रंथि: पृ० १२६
2. वही, पृ० १२७
3. प्रसाद ग्रंथावली, प्रेम-पथिक, पृ० ९३
4. वही, पृ० १०२
5. वही, कानन-कुसुम पृ० १४८
6. वही, झरना, पृ० २६१
7. वही, पृ० २७२
8. रोमाण्टिसिज्म—एबरक्रोम्बे, पृ० १३१

रोमानी चेतना से अनुप्राणित कवियों ने प्रकृति के स्वतन्त्र क्रिया व्यापारों और उसके उन्मुक्त सौन्दर्य के वर्णन में मानवीय भावनाओं की सांकेतिक रूप में व्यंजना की है। निम्नांकित उदाहरणों में रेखांकित प्राकृतिक प्रतीकों का प्रयोग प्रणयानुभूति को प्रेषित करने के लिए हुआ है—

कमल-कानन के मकरन्द को।[1]
(विस्मृत प्रेम के लिए प्रयुक्त)

था दूसरा बसन्त मनोहर आया उपवन में,
नए फूल उपहार बहुत-सा हम लोगों को लाया था।[2]
(क्रमशः यौवनावस्था और जीवन के लिए प्रयुक्त)

ऐसी उषा की लाली अब तो दिखादे मोहन।[3]
(दिव्य प्रेमानुभूति के लिए प्रयुक्त)

हृदय-क्षत मलयज से खिल जाय
सुमन भी समता पावे नही।[4]
(भक्तिभावना के लिए प्रयुक्त)

उड़ादो मत गुलाल सी हाय,
अरे अभिलाषाओं की धूल।
और ही रंग नहीं लग जाय,
मधुर मंजरियाँ जावें झूल।[5]
(हृदयगत मधुर भावनाओं के लिए प्रयुक्त)

यह पतझड़-बसन्त एकत्रित मिला हुआ संसार।[6]
(क्रमशः दुःख-सुख के लिए प्रयुक्त)

अमा को करियें सुन्दर राका।[7]
[क्रमशः अज्ञान (दुःख) और ज्ञान (सुख) के लिए प्रयुक्त]

उस छबि के मंजुल उपवन को
इस मरु से पथ जाता है,
पर मरीचिका से मोहित हो,
मृग मग में दुख पाता है।

1. प्रसाद ग्रन्थावली, चित्राधार : रत्नशंकरप्रसाद, पृ० ६८
2. वही, प्रेम-पथिक, पृ० ६४
3. वही, कानन-कुसुम, पृ० १६७
4—7 वही, झरना, पृ० क्रमशः २७३, २७६, २६४, २६८

वालू का प्रति कण इस मरु का
मेरु सदृश हो उच्च अपार
भीरु पथिक को भटकाता है
दिखला स्वर्ण सरित की धार।[1]

(क्रमशः दिव्य लोक, तीव्र एवं दुर्निवार सांसारिक बाधाएँ, मोहक आकर्षण के लिए प्रयुक्त)

जब नन्दन की चम्पा कलिका
कह लाती थी मैं सुकुमार

× × ×

मेरा सौरभ चुरा-चुरा कर
मारुत करता था संचार।[2]

(क्रमशः नवयौवना नायिका, प्रेम-सौन्दर्य, रसिक-नायक के लिए प्रयुक्त)

मग्न है नव कमल वन में हंसिनी।'[3]

(क्रमशः नवोदित प्रेम-भावना, मुग्धा नायिका के लिए प्रयुक्त)

बना मधुर मेरा जीवन !
नव नव सुमनों से चुन-चुनकर
धूल सुरभि मधुरस हिमकण
मेरे उर की मृदु कलिका में
भरदे, करदे विकसित मन।[4]

(मधुर एवं रससिक्त प्रेम भावनाओं के लिए प्रयुक्त)

इसके अतिरिक्त जयशंकर प्रसाद के 'कानन कुसुम' की 'प्रथम प्रभात', 'झरना' की 'बसन्त की प्रतीक्षा', 'पाई बाग', 'सुधा में गरल' शीर्षक कविताएँ व्यंजक प्राकृतिक प्रतीकों का उत्कृष्ट उदाहरण हैं। पन्त के 'ग्रंथि' खण्डकाव्य और महाकवि निराला की 'जूही की कली' शीर्षक रचना में नवीन प्रकृति-प्रतीकों की अवतारणा हुई है। आधुनिक काव्य में नियोजित प्रतीक नूतन अभिव्यंजना-पद्धति से अर्थव्यंजित करने की कलात्मक कामना के मूर्तरूप हैं, अतः ये कलावादी अभिरुचि के परिचायक माने जा सकते हैं। यही कलावादी अभिरुचि परवर्ती छायावादी काव्य में प्रतीकात्मक व्यंजना के अतिरंजित रूप

1. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रन्थावली, वीणा, पृ० १०३
2. वही, पृ० ११२
3. वही, ग्रंथि, पृ० १२७
4. वही, पल्लव, पृ० २२१-२२२

में दृष्टिगोचर हुई। प्रतीक-वैचित्र्य के आधिक्य से युक्त होने के कारण ही छायावादी काव्य की भाषा को 'प्रतीक भाषा'[1] के नाम से भी अभिहित किया गया है।

कल्पना के प्रति विशेष मोह होने के कारण आधुनिक कवियों ने अभिव्यंजना के उपकरण विशेष के रूप में बिम्बों का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त अँग्रेजी के रोमानी कवियों की बिम्ब-योजना ने भी हिन्दी के कवियों की कलावादी रुचि को और अधिक तीव्र बना दिया।[2] समीक्ष्य कालखण्ड के उत्तरार्द्ध में कवियों की बिम्बचेतना निखर कर वैविध्यपूर्ण एवं समृद्ध रूप ग्रहण कर लेती है। कवियों के भावलोक तथा ऐन्द्रिक अनुभूतियों से संबंधित बिम्ब बड़े ही रमणीय बन पड़े हैं। इसके विपरीत मध्यकालीन कवियों की विम्बयोजना वस्तुपरक तथा स्थूल होती थी। आधुनिक कवियों की सी मनोदशाओं तथा संवेदनाओं की बिम्बविधायिनी गहन पैठ उनमें न थी। वे प्रायः मूर्त वस्तुओं एवं पदार्थों का ही आकर्षक तथा मनोहर चित्रांकन करते रहे। बिवेच्य कवियों की बिम्ब-योजना को अध्ययन के सुविधानुसार तीन रूपों में रखा जा सकता है—

(१) रूप-बिम्ब।

(२) भाव-बिम्ब।

(३) क्रिया-बिम्ब।

(१) रूपबिम्ब—चाक्षुष प्रतिमूर्ति उपस्थित करनेवाले बिम्बों को रूप-बिम्बों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इन बिम्वों का मुख्य आधार प्रकृति के नाना-रूपों का चित्रण है—

[१] ताराओं की माला कवरी में लटकाये, चन्द्रमुखी,
रजनी अपने शांति-राज्य-आसन आकर बैठ गई।[3]

[२] रविकर पाकर उषा उठ खड़ी हुई अहो,
जैसे प्रिय कर का अवलम्बन किये प्रेयसी उठती है।[4]

1. आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवत्तियाँ (छायावाद) : डा. नगेन्द्र
2. Romaticism defies the actul and substitutes for it the desire of the imagination, or rather, actual becomes mere beckground of cloudy stuff on which desire may project and so enjoyably inspect its own luminous image."—रोमाण्टिसिज्म—एबर क्रोम्बी, पृ० १६६
3. प्रसाद ग्रन्थावली : प्रेमपथिक, रत्नशकरप्रसाद, पृ० ६०
4. वही, पृ० ६७

[३] कुसुमदलों से लदी हुई धरणी का यह शोभन उद्यान,—
किसके क्रीडा-कुञ्ज-समान दिखाई देता है सुन्दर ?
किसकी यह सम्भोग सेज थी सजी ? अभी उठ कर जैसे
चल गया है ! परिमल-मिलित बूंद श्रम के ये बिखरे हैं।[1]

[४] उदित कुमुदिनीनाथ हुए प्राची में ऐसे,
सुधा-कलश रत्नाकर से उठता हो जैसे।[2]

[५] खुले हुए कच-भार बिखर गये थे वदन पर
जैसे श्याम सिवार आसपास हो कमल के।[3]

[६] हास-सरिता में सरोजों-से खिले
गाल के गहरे गढों को।[4]

[७] कौन, कौन तुम परिहृतवसना,
म्लानमना, भू – पतिता-सी,
वात-हता विच्छिन्न लता-सी,
रति-श्रान्ता ब्रज-वनिता-सी ?[5]

[८] विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी–
स्नेह-स्वप्न-मग्न-अमल-कोमल-तनु तरुणी
जुही की कली।[6]

(२) भाव-बिम्ब—भाव-बिम्ब-योजना के अन्तर्गत कवियों ने नये और सुन्दर प्रयोग किये हैं। मूर्त के लिए मूर्त—अमूर्त, अमूर्त के लिए अमूर्त—मूर्त उपमानों के प्रयोग वर्ण्य के प्रभाव की समग्र प्रतिच्छवि अंकित करते हैं। वस्तुत: ये मूर्त—अमूर्त उपमान बिम्ब-विधान के अंग-रूप में प्रयुक्त होकर औपमिक श्री के संवर्द्धन में महत्त्वपूर्ण योग दे सके हैं। सुमित्रानन्द पंत की 'ग्रंथि' में कई भाव-बिम्बों का सुन्दर अंकन हुआ है। भावमूलक बिम्बों के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

1. प्रसाद ग्रन्थावली, प्रेमपथिक, रत्नशंकरप्रसाद, पृ० १०१
2. वही, कानन-कुसुम, पृ० २०८
3. वही, पृ० २१०
4. सुमित्रानंदन पन्त ग्रन्थावली, ग्रन्थि, पृ० १३१
5. वही, पल्लव, पृ० २०३
6. परिमल (जूही की कली) : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पृ० १९१

(१) अखिल विश्व के कोलाहल से
दूर सुदूर निभृत निर्जन में।
गोधूली के मलिनाञ्चल में
कौन जंगली बैठा बन में।[1]

(२) खेल-खेल कर खुली हृदय की कली मधुर मकरन्द हुआ।
खिलता था नव प्रणयानिल से नन्दन कानन का अरविन्द।
विमल हृदय के छायापथ में अरुण विभा थी फैली।
घेर रही थी नव जीवन को वसन्त की सुखमय संध्या।
खेल रही थी सुख सरवर में तरी पवन अनुकूल लिये।
सम्मोहन वंशी बजती थी नव तमाल के कुंजों में।[2]

(३) लाज की मादक सुरा-सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन गुलाब-से,
छलकती थी बाढ़-सी सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों से, सीप-से।[3]

(४) दृष्टि पथ में दूर अस्फुट प्यास-सी।
खेलती थी एक रजत मरीचिका।
शरद के बिखरे सुनहले जलद-सी।
बदलती थी रूप आशा निरन्तर।[4]

(५) वेदना! — कितना विशद यह रूप है!
यह अँधेरे हृदय की दीपक शिखा!
रूप की अन्तिम छटा! औ' विश्व की
अगम चरम अवधि, क्षितिज की परिधि सी।[5]

(६) उसे याद आता है क्या वह।
अपने उर का भाव रतन?
जब कि कल्पना की तन्त्री में।
खेल रहे तुम, करतार।[6]

1. प्रसाद ग्रंथावली, झरना, रत्नशंकरप्रसाद, पृ० २४५
2. वही, प्रेमपथिक, पृ० ६३
3. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रन्थावली, ग्रन्थि, पृ० १२५
4—5. वही, पृ० १३३, १३७
6. वही, पल्लव, पृ० २१६

(३) क्रिया-बिम्ब—क्रिया-विम्बों के अन्तर्गत बाह्य की अपेक्षा कवियों की आन्तरिक गति का चित्रण अधिक रहता है। आधुनिक कवियों ने कहीं-कहीं मानसिक संवेदनाओं के आधार पर क्रिया-बिम्बों की सुन्दर सृष्टियाँ की हैं। कवियों के अधिकांश क्रिया-बिम्ब प्रकृति-व्यापार से संबंधित हैं। इन प्राकृतिक क्रिया-बिम्बों का अवतरण स्वच्छन्दचेता कवियों—जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत और सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' आदि की रचनाओं में ही हुआ है—

(१) देखो मोहन अपना कैसा वेश बदलता आता है
नीलाम्बर को छोड़ दिया पीताम्बर पहने वह आया
ताराओं का मणि - आभूषण धीरे-धीरे उतरा है।[1]

(२) तारा हीरक हार पहन कर चन्द्रमुख—
दिखलाती, उतरी आती थी चाँदनी
(शाही महलों के ऊँचे मीनार से)
जैसे कोई पूर्ण सुन्दरी प्रेमिका
मन्थर गति से उतर रही हो सौध से।[2]

(२) फल मूल लेने के लिए तब जानकी तरु-पुञ्ज में।
सञ्चारिणी ललिता लता सी खोगई घन कुञ्ज में।[3]

(४) रजनी के रंजक उपकरण बिखर गये,
घूँघट खोल उषा ने झाँका और फिर—
अरुण अपांगो से देखा, कुछ हँस पड़ी,
लगी टहलने प्राची प्रांगण में तभी।[4]

(५) भीग मालिन की तरल जल धार से
एक मधुकर मूल में गिरकर, सजल
भग्न आशा से छदों को पोंछकर
पुनः उड़ने को विकल था हो रहा।[5]

(६) व्यर्थ मेरा धन न यों छीनो—सजल
वेदना, यह प्रणय की दी वेदना

1 प्रसाद-ग्रन्थावली, प्रेम-पथिक, रत्नशंकरप्रसाद, पृ० १०१
2 वही, महाराणा का महत्व, पृ० १३६
3. वही, काननकुसुम, पृ० २११
4. वही, झरना, पृ० २४०
5. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रन्थावली, ग्रन्थि, पृ० १२७

मूक तम, वाचाल नग्न शिशिर, दबो
शून्य गर्जन, आह, मादक सुधि अटल
और भी, हाँ, प्रियतमा के रूप का
भार, ध्रुव से अश्रु आँखों में, चुभे
कण्टकों का हार, कुछ उद्गार जो
बादलों से उमड़ते हैं हृदय में।[1]

(७) ललित लतिका के विकम्पित अधर में
काँपती है आज मेरी कल्पना[2]।

(८) नायक ने चूमे कपोल
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आधुनिक कवियों ने रूपक, मानवीकारण, ध्वन्यर्थ व्यञ्जना इत्यादि अलंकारों और प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करते हुए अनेक बिम्बों का निर्माण किया है। कवियों के ये बिम्ब संस्कृतनिष्ठ—अपारदर्शी भाषा के चमत्कार मात्र न होकर पारदर्शी, उर्वर एवं बिम्बधर्मी भाषा के मुखरित चित्र हैं। पंत ने कविता में बिम्बों की महत्त्वपूर्ण भूमिका का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

"कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द, सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, × × × जिनका रस मदिरा की फेन राशि की तरह अपने प्याले से बाहर छलक उसके चारों ओर मोतियों की झालर की तरह झूमने लगे, छत्ते में न समाकर मधु की की तरह टपकने लगे।"[4] विवेच्य बिम्बविधान कविदर पंत द्वारा निर्दिष्ट विशेषताओं की प्राप्ति के स्तुत्य प्रयास हैं। कवियों की यह बिम्बविधायिनी चित्रात्मकता निःसन्देह काव्य शिल्प की कलावादी भूमिका को रेखांकित करती है।

(घ) प्रगीतात्मक मुक्तक शैली

भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रों में 'प्रगीत' काव्य-रूप का उल्लेख

1. सुमित्रानंदन पंत, ग्रंथावली,, ग्रंथि, पृ० १३५
2. वही, पृ० १३६
3. परिमल : सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', पृ० १६१
4. सुमित्रानन्दनपंत ग्रंथावली, पल्लव का प्रवेश, पृ० १६०

प्रगीत दो भिन्न शैलियों के के द्योतक न होकर एक ही मूल शैली—प्रगीतात्मक मुक्तक-शैली— के विभिन्न विकास-सूत्रों के व्यंजक हैं। वैयक्तिक रोमानी भावों का प्रतिनिधि रूप होने के कारण समीक्ष्य प्रगीतात्मक मुक्तक आनन्द तथा मनोरंजन के पर्याय बन गए हैं। ये प्रगीतात्मक मुक्तक अपनी रसमयी फुहार से तन-मन में फुरहरी उठा जाते हैं, और बस। अतः यह प्रगीत-मुक्तक-शैली विशुद्ध काव्य-सामग्री को अपनी विशिष्ट कला-भंगिमाओं के साथ प्रस्तुत करने के कारण कलावादी चेतना से अनुप्राणित मानी जा सकती है।

(घ) निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में, हम कह सकते हैं कि विवेच्य काव्य का शिल्प अपने साधारण एवं इतिवृत्तात्मक रूप से चलकर कलावादी शिल्प की कोटि में पहुँचता है। विवेच्य कलावादी शिल्प पर भारतीय संस्कृत साहित्य की कला-माधुरी और पाश्चात्य साहित्य की कलाभंगिमा दोनों का ही समवेत प्रभाव पड़ा है। छायावादी काव्य का वैभव-सम्पन्न शिल्प अपने ऐतिहासिक क्रमन्यास में विवेच्य काव्य के शिल्प से जुड़ा हुआ है और उसी के विकास का परिणाम है। अतः हिन्दीकाव्य के सही मूल्यांकन के लिए इस बीजरूप शिल्प के अवदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता है।

● ●

६. विवेच्य-काव्य : कलावादी भूमिका

(क) कलावादी काव्य-रचना का विकास-क्रम

काव्य-वस्तु एवं कला-उपकरणों के रूढ़िबद्ध हो जाने के कारण रीतिकाल की कविता कृत्रिम एवं निर्जीव हो गयी थी। आधुनिक काल के प्रथम चरण—भारतेन्दु युग—में इस रूढ़वादिता की भित्ति को तोड़-गिराने के प्रयास प्रारंभ हुए। इस युग में कविता को चारदीवारी से मुक्तकर लोकजीवन के बिस्तृत धरातल पर प्रतिष्ठित किया गया और ब्रजभाषा के साथ-साथ खड़ी बोली का भी काव्य-भाषा के रूप में भी प्रयोग प्रारंभ हुआ। शताब्दियों पश्चात् हिंदी-कविता अपनी लीक छोड़कर नवीन पथ पर गतिशील हो उठी। आलोच्य काल में (१६०१-२० ई०) में रीतिकालीन शृंगार-धारा कुछ दूर चलकर लुप्त प्राय हो गयी है और भारतेन्दु युग की नवीन जनवादी भावधारा का उद्रेक क्रमश: तीव्रतर होता गया है। भारतेन्दु युग की नवचेतना, नए विचार, नवीन भाव तथा नव्य काव्य-उपादानों को सुरक्षित रखने एवं विकसित करने का श्रेय इसी काल-खण्ड को जाता है। यहाँ यह स्पष्ट करदेना आवश्यक है कि भारतेन्दु-युग के पश्चात् हिन्दी-कविता के क्षेत्र में सहसा कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन आ गया हो, ऐसा मान लेना असंगत एवं अनैतिहासिक होगा। आलोच्य काल के प्रारंभ से लेकर अन्त तक विकास की प्रक्रिया अपनी स्वाभाविक गति से निरन्तर चलती रही। इस प्रक्रिया मे अनेक तत्त्वों—सामयिक परिस्थितियों, बाह्य प्रभावों इत्यादि—की धनात्मक-ऋणात्मक भूमिकाएँ रही हैं। समीक्ष्य काव्य के प्रवृत्तिगत विकास के संबंध में डॉ० उदयभानुसिंह का कथन है—"द्विवेदी-युग की कविता विषय, छन्द और अर्थ की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-काव्य-भवन के भूतल से चलकर शिखर तल पर पहुँच गई, यही उसकी महिमा है।"[1] दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि आलोच्य कविता उपयोगितावाद (वर्णनात्मक तथा नैतिकतावादी काव्य) से प्रारंभ होकर क्रमशः कलावाद (कल्पना तथा शिल्प-वैभव से समृद्ध काव्य) की

1. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग : डा. उदयभानुसिंह पृ० ३०८

ओर अभिमुख हुई, और कला-सौन्दर्य के नूतन संस्पर्शों से सजीव हो उठी। गत अध्यायों में समीक्ष्य काव्य की कलावादी भूमिका को रेखांकित किया गया है। इस समग्र रेखांकन का सिंहावलोकन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विवेच्य काल भाव, भाषा और शैली—इन तीनों ही दृष्टियों से युगान्तरकारी अथवा कलात्मक आन्दोलन का काल है। परिमाण तथा मूल चेतना के आधार पर इस काल-खण्ड की कविता के प्रवृत्त्यात्मक विकास को तीन सोपानों में विभाजित किया जा सकता है—

प्रथम सोपान : उपयोगितावाद (१९०१–१२ ई०)
द्वितीय सोपान : कलावादी चेतना का स्फुरण (१९१३–१७ ई०)
तृतीय सोपान : कलावाद (१९१७–१८–२० ई०)

प्रथम सोपान : उपयोगितावाद
(१९०१–१२ ई०)

विवेच्यकाल सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से प्रकम्पित धरती पर अपने पैर जमा रहा था। इस समय नवीन सांस्कृतिक जागरण की लहर देश भर में फैल रही थी। समाज के सर्वाधिक संवेदनशील एवं जागरूक प्राणी होने के नाते कवियों ने जन-मन की आकुलता-व्याकुलता को वाणी प्रदान की। चूँकि अव्यवस्थित एवं अशान्त वातावरण में आभ्यंतरिक काव्य की रचना संभव नहीं होती, अतः इस काल के प्रारम्भिक वर्षों की कविता ने बहिर्मुखी, आचार-प्रधान एवं लोकोन्मुख रूप धारण किया है। इस कविता पर महर्षि दयानंद, लोकमान्य तिलक एवं महात्मा गाँधी की सामाजिक और सांस्कृतिक विचारधाराओं की गहरी छाप है। विवेच्य कवि समाज की समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रत्येक क्षण व्याकुल हैं और देश की उन्नति में योग देनेवाले प्रत्येक विचार को सहर्ष मुखरित करते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य के साज-शृंगार की अपेक्षा समाज-निर्माण का अधिक महत्त्व है। इस सोपान की कविता के स्वरूप को समझने के लिए डॉ० मदान का निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है—

"आधुनिक हिन्दी कविता के द्वितीय उत्थान के आरम्भिक चरण में अधिकांश रचनाएँ आख्यात्मक एवं अभिधात्मक हैं, इनमें विषय की विविधता होने पर भी शिल्प की एकरसता है।[1]" इस अवधि में रचित रचनाओं में प्रायः भावात्मक गहनता का अभाव है। कवियों ने किसी वस्तु या घटना के

1. आधुनिक कविता का मूल्यांकन : डा. इन्द्रनाथ मदान, पृ० २६

स्थूल वर्णन को ही कवि-कर्तव्य समझ लिया है, अतः उनकी कविता में शुष्कता एवं नीरसता आ गई है। आचार्य शुक्ल ने इतिवृत्तात्मकता को इस काल की कविता की मूल प्रवृत्ति कहा है।[1] इतिवृत्तात्मक काव्य लिखने वाले कवियों में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, मुकुटधर पाण्डेय, नाथूरामशंकर शर्मा 'शंकर' इत्यादि प्रमुख हैं।

इसकाल की उपदेशात्मक रचनाओं से भी उपयोगितावादी धारणा की संपुष्टि हुई है। आधुनिक कवि जीवन, समाज और राष्ट्र की उन्नति में योग देनेवाले तत्त्वों के उद्घाटन में दत्त-चित्त हुए हैं। दैनिक जीवन में उपयोगी सिद्ध होनेवाले प्रत्येक आचार-विचार एवं व्यवहार का संयोजन इस काल की कविता का धर्म बन गया है। देशवासियों में देश-प्रेम, साहस एवं त्याग-बलिदान की ज्योति जगाने के उद्देश्य से राष्ट्र के आलोकपूर्ण अतीत की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। उपदेश-प्रधान उपयोगितावादी काव्य-रचना करने वाले मुख्य कवि मैथिलीशरण गुप्त, श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय, सियारामशरण गुप्त इत्यादि हैं। उपयोगितावादी काव्य में जीवन और समाज को स्वस्थ सुन्दर एवं उन्नत बनानेवाले आदर्श तत्त्वों को महत्व दिया जाता है। इस सोपान में आदर्शमूलक उपयोगितावादी धारणा प्रबंध काव्य एवं स्फुट रचनाओं–दोनों के माध्यम से प्रस्तुत हुई है। 'प्रिय-प्रवास' महाकाव्य (हरिऔध), 'जयद्रथ-वध' (मैथलीशरण गुप्त), 'मौर्य-विजय' (सियारामशरण गुप्त), 'महाराणा का महत्त्व' (प्रसाद) एवं 'प्रणवीर प्रताप' (पं० गोकुलचन्द्र शर्मा) आदि खण्डकाव्यों में लोकसेवा और राष्ट्रप्रेम के आदर्शों की प्रस्थापना हुई है।

इस सोपान के अन्तर्गत रीतिकालीन शृंगार प्रधान कवित्त-सवैया शैली में विशुद्ध कलात्मक कोटि की काव्य रचना भी महावीरप्रसाद द्विवेदी, राय-देवीप्रसाद 'पूर्ण' नाथूरामशंकर शर्मा 'शंकर' इत्यादि कवियों के द्वारा बराबर होती रही। यह परंपरागत शृंगार-प्रधान कलावादी प्रवृत्ति इस कालावधि की मूल चेतना नहीं है, इसका महत्त्व एवं अस्तित्व परंपरा-निर्वाह तथा निर्वाणासन्न दीपक के प्रकाश से अधिक स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए।

यद्यपि उपयोगितावादी चिन्तन से प्रभावित रचनाओं में काव्यत्व का प्रायः अभाव है, तथापि इनका ऐतिहासिक महत्त्व है। वस्तुतः इतिवृत्तात्मक तथा उपदेशात्मक धरातल पर चलकर ही विषय-प्रधान कविता भाव एवं

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५८५

कल्पना-प्रवण हो सकी। इन कविताओं के महत्त्व के संबंध में डॉ० सुधीन्द्र का निम्नलिखित मत युक्तिसंगत माना जा सकता है—

"गंगा जहाँ से निकलती है, वहाँ की धारा क्षीण-क्षुद्र होते हुए भी हमारे लिए तीर्थरूप है। द्विवेदीकाल की ये कविताएँ आज की हिन्दी कविता की गंगा की गंगोत्री हैं।"[1]

द्वितीय सोपान : कलावादी चेतना का स्फुरण (१९१३ ई०—१७ ई०)

'इन्दु' (१९११ ई०) के प्रकाशन के पश्चात् हिन्दी-कविता नवीन लक्षणों की ओर संकेत करने लगती है। इस पत्र के माध्यम से प्रसाद की वे रचनाएँ प्रकाश में आती हैं, जिनमें छायावादी शैली का प्रारंभिक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। विषय तथा शिल्प के प्रति स्वच्छन्द दृष्टिकोण लेकर लिखी जाने वाली कवि की ये रचनाएँ निश्चित रूप से तत्कालीन काव्यक्षेत्र में युग-परिवर्तन की सूचक थीं। वस्तुत: 'इन्दु' में प्रकाशित रचनाओं ने कलावादी काव्य-रचना के लिए मार्ग प्रशस्त किया। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार १९१३ ई० से स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति अधिक प्रगाढ़ एवं स्पष्ट होकर छायावादी विशिष्ट शैली के रूप में परिणत होने लगती है।[2] इसी समय शेली, कीट्स, बायरन और टेनिसन आदि स्वच्छन्दतावादी कवियों की काव्य-मान्यताएँ एवं कविताएँ युवक हृदयों को एक नूतन सौन्दर्यलोक की ओर आकृष्ट करने लगीं। संयोगवश १९१३ ई० में रवीन्द्रनाथ टैगोर को नोबल पुरस्कार मिला, इससे कवियों के मन पर पाश्चात्य-साहित्य के जादू का प्रभाव और भी तीव्रता से पड़ा। १९१४ ई० के आसपास मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय और श्रीधर पाठक की ऐसी रोमाण्टिक कविताएँ प्रकाशित हुईं जिसमें कलावादी चेतना का आभास था। इस समय की कविताओं में प्रकृति-प्रेम, रहस्यभावना, रमणीय कल्पना, लाक्षणिकता इत्यादि कलात्मक विशेषताओं की संयोजना को स्पष्टत: देखा जा सकता है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों के परिणाम-स्वरूप युग का रागबोध अपेक्षाकृत उदार एवं विस्तृत हो गया। इस उदार रागबोध के आलोक में कवियों ने प्रकृति को नए-नए रूप-रंगों में देखा और वह कलावाद के सचेतन उपकरण के रूप में विद्यमान हुई। प्रसाद के 'प्रेम-पथिक' की कलापूर्ण भंगिमाएँ कलावाद के

1. हिंदी-कविता में युगान्तर : डा. सुधीन्द्र, पृ० १४०
2. अवन्तिका (काव्यसोपान का विशेषांक) पृ० १९१

स्फुरण की सूचिकाएँ हैं। उनके 'कानन-कुसुम' की 'चित्रकूट' तथा 'शिल्प सौन्दर्य' आदि रचनाएँ भी इस प्रसंग में उल्लेख्य हैं। मैथिलीशरण गुप्त की 'नक्षत्र-निपात' [१६१४ ई०], 'अनुरोध' [१६१५ ई०], 'पुष्पांजलि' [१६१७ ई०], मुकुटधर पाण्डेय की 'आँसू' [१६१७ ई०], श्रीधर पाठक की 'देहरादून' और निराला की 'जूही की कली' [१६१६ ई०] आदि कविताओं में नवीन रचना-प्रक्रिया से पूर्ण कलावादी स्फूर्ति पायी जाती है।

इन वर्षों में उपयोगितावादी काव्य की रचना भी बराबर होती रही। इस दृष्टि से 'किसान' [मैथिलीशरण गुप्त], 'अनाथ' [सियारामशरण गुप्त], कृषक-क्रन्दन [गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'] इत्यादि खण्डकाव्य विशेष उल्लेखनीय हैं। हरिऔध कृत 'प्रिय-प्रवास' महाकाव्य को भी उपयोगितावादी कोटि में रखा जा सकता है। इस महाकाव्य में मध्ययुगीन पौराणिक सभ्यता का आधुनिक रूपान्तर किया गया है। कवि ने इस महाकाव्य के माध्यम से सुधारवादी तथा नैतिकतावादी कार्य सम्पन्न किया।

इस सोपान के अन्तर्गत स्वच्छन्दतावादी तथा कलावादी प्रवृत्तियों का स्फुरण तो हुआ, किन्तु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की पुनरुत्थान-मूलक सुधारवादी नीति के कारण इनका समुचित विकास नहीं हो सका। डॉ० वार्ष्णेय ने अपने निम्नांकित कथन में इसी तथ्य की ओर संकेत किया है—"इतिवृत्तात्मकता के भँवर में पड़कर स्वच्छन्दतावाद प्रथम महायुद्ध तक घूर्णी नृत्य का उत्सव मनाता रहा। १६१८ ई० के लगभग से उसने अपनी सीमित परिधि तोड़कर विश्व के साथ तादाम्य स्थापित कर आनंद और सौन्दर्य की सम्पूर्णता प्राप्त की।"[1]

तृतीय सोपान : कलावाद
(१६१७–१८–२०)

१६१३-१४ से १६१७ ई० तक के वर्षों के काव्य में स्वच्छन्द प्रवृत्ति के दर्शन होने लगे थे। इन वर्षों में स्वच्छन्दता के साथ-साथ एक नवीन कलात्मकता की संभावना का मार्ग भी प्रशस्त हो रहा था। इस कलात्मक संभावना (कलावादी चेतना) का मूर्तरूप आलोच्यकाल के अन्तिम वर्षों (१६१८—२० ई०) में दिखाई पड़ा। इन वर्षों में भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्रीय भावनाओं की काव्यात्मक व्याख्या करने के बन्धन शिथिल पड़ गये और कवि समाज से किंचित विमुख रहकर कल्पना-लोक की ओर झाँकने

1. बीसवीं शताब्दी : हिंदी साहित्य : नए सन्दर्भ : डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० १११

लग गए। इन कल्पनाशील कवियों की तुलना उस मयूर से की जा सकती है जो अपने ही आनन्द के अतिरेक में झूमने गाने लगता है। आत्मसुख की इच्छा से प्रेरित इन कवियों की रचनाएँ कलावादी धारणा की संपुष्टि करती हैं। इस समय कलावाद का अत्यन्त समीपवर्ती छायावाद सच्चे अर्थों में प्रतिष्ठित होने लगा है—

"इसके अन्तिम चरण में काव्य की वस्तु तथा उसका शिल्प छायावादी कविता के लक्षणों को सूचित करने लगता है।"[1] डॉ० लाल ने इस नवागत काव्य प्रवृत्ति को 'कलात्मक एवं दार्शनिक आन्दोलन' के रूप में रेखांकित किया है। वे लिखते हैं—"इसमें विश्व की वेदना, सृष्टि का रहस्य, उदात्त भावना, अलभ्य श्रेय से उद्भूत एकान्त वेदना और अनन्त निराशा आदि विशिष्ट दार्शनिक प्रवृत्तियों का प्रदर्शन था।"[2]

इस सोपान में कवि वर्णनात्मकता को त्याग कर भावात्मकता की ओर उन्मुख हुए हैं। अब कवि वस्तु या घटना का इतिवृत्त-वर्णन न कर उससे मन में उठने वाले भावों और विचारों की कलात्मक अभिव्यक्ति करने लगे हैं। कवियों में पौराणिक और ऐतिहासिक कथानकों से आगे बढ़कर काल्पनिक कथानकों को काव्य का विषय बनाने की चेतना भी जाग्रत् हुई। पंत के 'ग्रंथि' खण्डकाव्य का कथानक काल्पनिक है।

इस काल में कल्पना, रहस्य, प्रकृति-प्रेम, वेदना, निराशा इत्यादि शुद्ध काव्य में विषयों को अपूर्व शैल्पिक वैशिष्ट्य के संयोजन के साथ अभिव्यंजित करने की कलावादी सिद्धि-समृद्धि की सूचक अनेक रचनाएँ प्राप्त होती हैं। मैथिलीशरण गुप्त की 'स्वयं आगत' [१९१८ ई०] रचना, प्रसाद के 'झरना' काव्य-संग्रह की कई रचनाएँ, सुमित्रानन्दन पंत की 'सरिता' [१९१८ ई०], 'बसन्तश्री' [१९१८ ई०], 'प्रथमरश्मि' [१९१९ ई०], 'स्वप्न' [१९१८ ई०] और 'छाया' [१९२० ई०] आदि अनेक रचनाएँ कलावाद की प्रशस्ति-पताकाएँ हैं। इन्हीं रचनाओं के आधार पर समीक्षा काल को 'पूर्व छायावाद'[3] की पद-श्री से सम्मानित किया गया है।

इस सोपान के अन्तर्गत उपयोगितावादी काव्य की रचना भी गतिशील रही है। 'रामचरित-चिन्तामणि' (रामचरित उपाध्याय १९२० ई०) और

1. आधुनिक कविता का मूल्यांकन : डा. इन्द्रनाथ मदान, पृ० २६
2. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, डा. श्रीकृष्णलाल, पृ० ३७
3. हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष : डा. शिवदानसिंह चौहान, पृ० २८

'साकेत'[1] (मैथिलीशरण गुप्त) जैसे महाकाव्यों की रचना इसी अवधि के अन्तर्गत हुई। इसके अतिरिक्त 'समाज कंटक' (मुकुटधर पाण्डेय, १९१८ ई०), गर्भ रण्डा-रहस्य (नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर', १९१९ ई०) तथा 'हृदयतरंग' (सत्यनारायण 'कविरत्न', १९२० ई०) आदि रचनाएँ भी उल्लेखनीय हैं।

(ख) मूल्यांकन : प्रदेय एवं उपलब्धि

आधुनिक काव्य के प्रवृत्त्यात्मक विकास के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि—

[१] विवेच्यकाल में उपयोगितावादी काव्य की रचना आद्यन्त अनवरत रूप से की जाती रही है।

[२] इस काल-खण्ड की मूल प्रवृत्ति उपयोगितावादी (Art for life's sake) है, किन्तु यह प्रवृत्ति क्रमशः कम होती गई है और अन्तिम वर्षों में (१९१७–१८–२० ई०) इसका स्थान कलावादी प्रवृत्ति (Art for Art's sake) ले लेती है।

[३] इस काल-खण्ड का प्रवृत्यात्मक विकास (क्रमिक है, अतिक्रम या छलांग नहीं) कलावादोन्मुख है।

[४] इस कालखन्ड की कलावादी रचनाएँ अपेक्षाकृत परिमाण में कम हैं, किन्तु इनका ऐतिहासिक महत्त्व है। आगे के वर्षों में छायावाद के रूप में कलावाद का नन्दन कानन इन्हीं विकच कलिकाओं के विकसित सुमनों से सुवासित हो उठा।

[५] इस काल की कलावादी चेतना, जहाँ एक ओर कल्पना तथा शिल्प के वैभव से सम्पन्न कलात्मक प्रतिमान काव्य की रचना की दिशा-निर्देशिका बनी, वहीं दूसरी ओर इसकी परिसीमाएँ (अतिरंजित कल्पना, वक्रता, वैयक्तिकता इत्यादि) भावी काव्य के लिए प्रेरणा-स्रोत भी बन गई।

कुछ भी सही, उपयोगिता और कला की प्रवृत्ति-द्वय की छटा-विशेषताओं से सम्पृक्त 'वय : संधि' को प्राप्त इस कविता-नायिका का कमनीय स्वरूप-सौन्दर्य अतीव मनमोहक है—

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबन अंग।
दीपति देह दुहूँन मिलि, दियत ताफ़ता-रंग।[2]

●●

1. इसका अधिकांश भाग आलोच्य काल में ही लिखा गया है,
2. बिहारी सतसई : बिहारीलाल

ग्रन्थ-सूची

(क) संस्कृत

आनन्दवर्धन— ध्वन्यालोक
कालिदास— रघुवंशम्
क्षेमेन्द्र— काव्यानुशासन
दण्डी— काव्यादर्श
भामह— काव्यालंकार
मम्मट— काव्य प्रकाश
राजशेखर— काव्यमीमांसा

(ख) हिन्दी

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'— प्रिय-प्रवास, पद्यप्रमोद
इन्द्रनाथ मदान— आधुनिक कविता का मूल्यांकन, निबन्ध और निबंध
इलाचन्द्र जोशी — विवेचन-विश्लेषण, साहित्य-सर्जना
ईश्वरी प्रसाद— अर्वाचीन भारत का इतिहास, मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास
उदयभानुसिंह— महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग
केसरीनारायण शुक्ल— आधुनिक काव्यधारा
गणपतिचन्द्र गुप्त— हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास
गुलाबराय — सिद्धान्त और अध्ययन।
जयशंकर प्रसाद— प्रेमपथिक, चित्राधार, कानन कुसुम, महाराणा का महत्त्व, झरना, काव्य और कला तथा अन्य निबंध
त्रिभुवनसिंह— आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा
देवीदत्त शुक्ल— द्विवेदी काव्य-माला (संग्रह)
धीरेन्द्र वर्मा— हिन्दी साहित्य-कोश (प्रथम भाग)
नगेन्द्र — पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परंपरा (सं०), सुमित्रानन्दन पन्त, आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, रीतिकाल की भूमिका
नन्ददुलारे वाजपेयी— आधुनिक साहित्य
नाथूरामशंकर शर्मा 'शंकर'— शंकर-सर्वस्व
नामवरसिंह— आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, छायावाद
प्रेमनारायन टण्डन— हिन्दी साहित्य में विविध वाद
ब्रह्मदत्त मिश्र 'सुधीन्द्र'— हिन्दी कविता में युगान्तर
भगवानदीन— नवीन बीन
भोलानाथ आधुनिक हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि
महावीरप्रसाद द्विवेदी— द्विवेदी काव्य-माला रसज्ञरंजन
मुकुटधर पाण्डेय— पूजा फूल
मैथिलीशरण गुप्त — साकेत, पद्य प्रबन्ध
रमेश कुन्तलमेघ— मिथक और स्वप्न, कामायनी की मनस्सौन्दर्य सामाजिक भूमिका
रवीन्द्र भ्रमर— छायावाद, समकालीन हिन्दी कविता
रामचन्द्र शुक्ल— हिंदी साहित्य का इतिहास, चिन्तामणि (भाग-२)
रामधारी सिंह 'दिनकर'— काव्य की भूमिका, शुद्ध कविता की खोज, संस्कृति के चार अध्याय
रामनरेश त्रिपाठी— पथिक, मिलन

रामविलास शर्मा—प्रगति और परंपरा, लोकजीवन और साहित्य, भारतेन्दु युग
रायदेवी प्रसाद पूर्ण— पूर्ण-संग्रह
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय— बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नए सन्दर्भ
लीलाधर गुप्त— पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त
लोचनप्रसाद पाण्डेय— पद्य-पुष्पाञ्जलि
शिवदानसिंह चौहान— साहित्यानुशीलन
श्यामसुन्दर दास — साहित्यालोचन, हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष
श्रीकृष्ण लाल— आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास
श्रीधर पाठक— काश्मीर-सुषमा, भारत-गीत, मनोविनोद, देहरादून
सच्चिदानंदन हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'— त्रिशंकु
सत्यनारायण 'कविरत्न'— हृदय-तरंग
सुमित्रानन्दन पन्त— वीणा, ग्रंथि, पल्लव
सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला— परिमल
हजारीप्रसाद द्विवेदी— साहित्य सहचर, हिन्दी साहित्य का आदिकाल
हरवंशलाल शर्मा—हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (चतुर्दश भाग, सम्पादक)

(ग) अँग्रेज़ी

आई० ए० रिचर्ड्स—कालरिज ऑन इमेजिनेशन, प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटीसिज़्म
आर० ए० फ़ाक्स०— दी टास्क ऑफ दी रोमाण्टिक पोइट : इन दी रोमाण्टिक एसर्शन
आर० ए० स्काटजेम्स— दी मेकिंग ऑफ लिट्रेचर
आस्कर वाइल्ड—इंटैंशंस
ए० सी० ब्रेडले— आक्सफ़ोर्ड लैक्चर्स ऑन पोइट्री
एफ़० एल० लूकस—लिट्रेचर एण्ड साइकोलोजी
एबर क्रोम्बे— रोमाण्टिसिज़्म
क्लाइव वेल— आर्ट
क्रिस्टोफर काडवेल— इल्यूज़न एण्ड रीयलिटी
जी० के० चैस्टर्टन— दी विक्टोरियन एज इन लिटरेचर
डब्लू० एच० हडसन— एक इण्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑफ़ लिटरेचर
बेनदेत्तो क्रोचे— एस्थिटिक, डिफैंस ऑफ पोइट्री
वाल्टर पेटर— रेनैसां (प्रथम संस्करण)
सिगमण्ड फ्रायड— कलैक्टेड पेपर्स
सी० एम० बावरा— हेरीटेज़, ऑफ़ सिम्बोलिज़्म
ह्विसलर— दी जैण्टिल आर्ट ऑफ़ मेकिंग एनिमीज़

(घ) पत्र-पत्रिकाएँ

अवन्तिका, इन्दु, धर्मयुग, मर्यादा, सरस्वती, साप्ताहिक हिन्दुस्तान आदि ।